आधुनिक निबन्ध

रामअवध शास्त्री

चौखम्भा ओरियन्टालिया
पो० आ० चौखम्भा, पो० बाक्स नं० ३२
वाराणसी (भारत)

आधुनिक निबन्ध

सम्पादक

रामअवध शास्त्री

चौखम्भा ओरियन्टालिया

पो० आ० चौखम्भा, पो० बाक्स नं० ३२

वाराणसी (भारत)

JADAUKUNWAR RASTRABHASHA GRANTHAMALA
NO. 2

ADHUNIK NIBANDH

Editor
RAMAWADH SHASTRI

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
VARANASI (INDIA)

प्रस्तुत संग्रह में भारतेन्दु और द्विवेदीयुगीन निबंधों को छोड़ दिया गया है : इसका यह अर्थ नहीं कि इस काल के निबंधों की अब उपयोगिता ही नहीं है। इस काल के निबंधों का साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से विशेष महत्त्व है। संग्रह में स्थान न मिलने का कारण पाठकों को सम-सामयिक निबंध-साहित्य से परिचित कराना है। इस कारण प्रस्तुत संकलन में स्वातंत्र्योत्तर निबंधों को ही संकलित किया गया है। अभी तक इस दिशा में कोई ठोस काम नहीं हुआ है। हिन्दी के अधिकांश पाठक तथा विद्यार्थी अपने युग के ही निबंध तथा निबंधकारों से अपरिचित होते हैं। इस कमी को दूर करने की दिशा में यह एक मौलिक प्रयास है।

इस संग्रह में प्रायः सभी प्रकार के निबंधों को स्थान मिला है। विषय की दृष्टि से इसमें यात्रावर्णन, देशवर्णन, खेलकूद, आविष्कार, त्योहार, संस्मरण आदि सभी प्रकार के निबंध हैं, जिनके अध्ययन से जहाँ पाठकों का मनोरंजन होगा वहीं अनेक विषयों की जानकारी भी होगी। आशा है कि प्रस्तुत संग्रह रुचिकर तथा उपयोगी होगा।

—रामअवध शास्त्री

अनुक्रम

निबंध : स्वरूप और संरचना

हिंदी का निबन्ध अंग्रेजी 'एसे' का पर्याय है जिसका अर्थ है—अच्छी तरह बांधने की प्रक्रिया या भाव। किसी विषय का वह विवेचन जिसमें उससे सम्बन्ध रखने वाले अनेक मतों, विचारों, मन्तव्यों आदि का तुलनात्मक और पांडित्य पूर्ण विवेचन हो।

सामान्यतः संस्कृत साहित्य में निबन्ध, रचनाओं को व्यवस्थित रूप में संजोकर रखने की प्रक्रिया के संदर्भ में व्यवहृत होता था, परन्तु आज वह गद्य-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा के रूप में जाना जाता है। वह अंग्रेजी के 'एसे' के समकक्ष है।

'एसे' शब्द का अर्थ है—प्रयास। डॉ० जानसन ने निबन्ध को इसी रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार 'एसे' मस्तिष्क का शिथिल प्रकाशन मात्र है, उसमें यथाक्रमता और एक श्रृङ्खलता नहीं होती। फ्रांसीसी विद्वान् मौण्टेन ने भी 'एसे' को इसी संदर्भ में स्वीकार किया है। इसके विपरीत निबन्ध शब्द सम्यक् कसाव का द्योतक है।

हिन्दी का निबन्ध रूप-विन्यास में अंग्रेजी 'एसे' के सदृश होकर भी उसकी आत्मा भारतीय है। उस पर संस्कृत निबन्ध शब्द का अनुशासन है। जहाँ 'एसे' में विचारों अथवा भावों की अभिव्यक्ति करने का प्रयास होता है वहीं निबन्ध में उसे चुस्त करने की परिपाटी है। अर्थात् पहले में अन्तःकरण की भूमिका दूसरे की तुलना में कम होती है।

पश्चिम के विद्वानों की दृष्टि में निबन्ध साधारण चलती हुई शैली है—बिखरे हुए चिन्तन का एकत्रीकरण है, परन्तु भारतीय आचार्य निबन्ध को गद्य की कसौटी मानते हैं। इस मतभेद का कारण निबन्ध में निबन्धकार के व्यक्तित्व सन्निवेश का भिन्न-भिन्न अर्थों में अपनाया जाना है। भारतीय विद्वानों ने वैयक्तिकता का सन्दर्भ शैली और अनुभूतियों के उरेहने की प्रक्रिया से लिया है। उनके अनुसार निबन्धकार का अभीष्ट विषय का प्रतिपादन है न

कि व्यक्तिगत विशेषता को उरेहने के लिए विचारों की शृङ्खला तोड़ना अथवा सामान्य अनुभूतियों से परे अलौकिक तथ्यों का सन्निवेश करना। इसके विपरीत पश्चिमी विद्वानों ने निबन्धकार से सम्बन्धित व्यक्तियों एवं घटनाओं आदि के चित्रण पर अधिक बल दिया है। प्रीस्टले ने इसी बात को और स्पष्ट करते हुए लिखा है—'सच्चे निबन्धकार के लिए किसी विषय विशेष का बन्धन नहीं है। वह इच्छानुसार कोई भी विषय चुन सकता है। उसमें किसी विषय को मनोनुकूल कर लेने की शक्ति होती है। इस कौशल द्वारा वह अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करता है—एक-एक शब्द में उसके अन्तस्तता की अगाधता और आकुलता ध्वनि बनकर समायी रहती है।' इसी कारण अंग्रेजी निबन्धों में विषयगत तथ्यों की अपेक्षा निबन्धकार के व्यक्तित्व-सम्बन्धी अवयवों का विश्लेषण होता है। विषयतत्त्व विषयान्तर तथ्यों के जाल में खोया रहता है परन्तु हिन्दी में व्यक्तित्व सम्बन्धी अवयवों के एकत्रीकरण के पश्चात् भी विषय गत तारतम्य सुगठित होता है। पाठक को विषय तत्त्व के रसास्वादन में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती। अंग्रेजी निबन्धों में इस अभाव का कारण निबन्ध-सम्बन्धी दृष्टिकोण है। पश्चिम में निबन्ध को कविता अथवा गीति के समकक्ष रखकर मनस्तृप्ति तथा हृदय को अनुरंजित करने का साधन माना जाता है, जबकि भारतीय विद्वानों ने निबन्ध में विचार-गुंफन को अधिक महत्त्व देकर उसे मनन एवं अभ्यास की वस्तु माना है।

●

जहाँ तक निबन्धों के प्रकार का प्रश्न है, वहाँ कोई सर्वमान्य वर्गीकरण नहीं किया जा सकता; क्योंकि निबन्धों के प्रायः उतने ही प्रकार हो सकते हैं जितनी उनकी संख्या होगी। ऐसी स्थिति में जिन लोगों ने निबन्धों को वर्गीकृत करने का प्रयास किया है उन्हें आंशिक सफलता मिली है। ऐसे ही वर्गीकरणों में एक वर्गीकरण का आधार 'मैं' रहा है जिसको ध्यान में रखते हुए विद्वानों ने निबन्ध को दो भागों में विभक्त किया है :—

१. विषयि-प्रधान, व्यक्तिगत या आत्मपरक

२. विषय-प्रधान, या वस्तुगत।

विषयि-प्रधान निबन्धों में विषयतत्त्व की अपेक्षा निबन्धकार का व्यक्तित्व प्रधान होता है। वह अपने 'मैं' (अहम्) को उरेहने का पूरा प्रयास करता है। इस दिशा में उसे जितना ही अधिक सफलता मिलती है; निवन्धों का सौन्दर्य पक्ष उतना ही सबल एवं आकर्षक होता है। ऐसे निवन्धों में निवन्धकार स्वच्छन्दता पूर्वक अपनी आकांक्षाएँ, मान्यताएं, भावनाएँ, प्रतिक्रियाएं आदि को निरूपित करता हैं और इन्हीं के सन्दर्भ में विषयतत्त्व का विकास होता है। लेकिन निवन्धकार के ऊपर विषयतत्त्व का कोई अनुशासन नहीं होता। लेखक यज्ञ के घोड़े के समान स्वच्छन्द भाव से इच्छित दिशा की ओर बढ़ता जाता है। उसका उद्देश्य आत्मानुभवों को सही रूप में उप स्थत करना होता है। पाठक भी निबन्धकार से विषय के सन्दर्भ में सजीव एवं सही टिप्पणी की आशा करता है। कदाचित् इसीलिए वह व्यक्तिव्यंजक निबन्धों का अध्ययन करता है। ऐसे निबन्धों में निहित लेखकों के 'अहम्' को देखकर इन पर सहज-तया 'दम्भ' का आरोप लगाया जा सकता है परन्तु यह आरोप किसी भी स्थिति में न तो सही होगा और न विचारणीय, क्योंकि —"अपने बारे में बातें करना कोई जरूरी नहीं कि वह अहंकार ही होगा! एक सही, सामान्य और सच्चा आदमी दुनिया की सभी बातों की अपेक्षा अपने बारे में कहीं ज्यादा सच्चाई से कुछ कह सकता है। इसीलिए कम से कम सच्ची बातें जानने की दृष्टि से पाठक निवन्धकार से बहुत कुछ उपलब्ध भी कर सकता है।"

विषयि-प्रधान निबन्धों में निवन्धकार को पाण्डित्य-प्रदर्शन का पूरा अवकाश होता है। यही कारण है कि ऐसे निवन्धकार बड़े महत्त्व के गुरु-गम्भीर विषय नहीं चुनते। वे सामान्य से सामान्य विषय को भी रचना-कौशल द्वारा महत्त्वपूर्ण बना देते हैं। निवन्धकारों का उद्देश्य असम्भव को न तो संभव बनाना होता है और न सम्भव को असम्भव के रूप में उपस्थित करना। उसका उद्देश्य पाठकों को दैनिक जीवन की छोटी-मोटी बातों की ओर आकर्षित करना रहता है जिनको हम कभी महत्त्व नहीं देते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्या-निवास मिश्र, महादेवी वर्मा, धर्मवीर भारती, कुबेरनाथ राय आदि के निबन्ध

इसी प्रकार के निबन्ध हैं जिनके विषय का सम्बन्ध दैनिक जीवन की छोटी-मोटी घटनाओं से है जिनकी हम प्रायः उपेक्षा करते हैं। उदाहरण के रूप में 'अशोक के फूल', 'आम फिर बौरा गये', नाखून क्यों बढ़ते हैं', (हजारीप्रसाद द्विवेदी); 'आंगन का पंछी', 'होरहा', 'मेरे राम का मुकुट भींग रहा है', 'तुम चन्दन हम पानी', 'मैं मधुबन जाऊँगा रे', (विद्यानिवास मिश्र); 'गिल्लू', 'गौरा', 'घीसा', 'नीलकण्ठ', (महादेवी वर्मा); 'ठेले पर हिमालय' (धर्मवीर भारती) आदि को लिया जा सकता है। इन निवन्धों में से किसी की रचना बच्ची द्वारा प्रश्न पूछने पर—'नाखून क्यों बढ़ते हैं[1] ?'—से हुई है तो किसी की गौरैया के बध के लिए आयोजित सामूहिक अभियान की सूचना मिलने पर[2]। इसी प्रकार किसी की ठेले पर लदी हुई वर्फ की सिलें देखने पर[3], तो किसी की सोनजूही में विकसित स्वर्णकली के दर्शन से[4]...आदि। इनमें से किसी का विषय न तो गम्भीर है और न दुरूह। और न रचना का उद्देश्य ही दार्शनिक विवेचन है। सामान्य बातों के माध्यम से अपने अनुभवों को अभिव्यक्ति देना ही लेखकों का काम्य है और इसी में निवन्धों का सौंदर्य निहित है।

विषय-प्रधान निबंधों में लेखक के 'अहम्' के विकास की बहुत कम संभावना रहती है, क्योंकि ऐसे निबंधों में लेखक का अभीष्ट विषय का सांगोपांग विवेचन होता है। इस कारण ऐसे निबंधों में विषय का विद्वता-पूर्वक क्रमवार प्रतिपादन होता है, फिर भी स्थान विशेष पर लेखक का व्यक्तित्व चिह्नित हो जाता है और निबंधों की रोचकता बढ़ जाती है। हिंदी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मनोवैज्ञानिक निबंध इसके अच्छे उदाहरण हैं जिनमें एक खांटी आचार्य का मस्तिष्क, भावुक साहित्यकार की कोमलता और तीक्ष्ण व्यक्तित्व सुरक्षित है।

विषय-प्रधान निवंधों की सीमा व्यक्तिव्यंजक निवंधों की तुलना में विस्तृत होती है। इसमें विभिन्न विषयों पर लिखे गये प्रायः सभी प्रकार के

---

१. 'नाखून क्यों बढ़ते हैं'—हजारीप्रसाद द्विवेदी
२. 'आंगन का पंछी'—विद्यानिवास मिश्र
३. 'ठेले पर हिमालय'—धर्मवीर भारती
४. 'गिल्लू'—महादेवी वर्मा

निबंध समा जाते हैं। शोधात्मक लेख, जीवनी, संपादकीय टिप्पणियां, पुस्तकीय समीक्षाएं, समीक्षाशास्त्र पर लिखे गये निबंध, वैज्ञानिक विषयों की व्याख्याएं आदि इसके प्रधान अंग हैं जिससे पाठकों का ज्ञानार्जन होता है। ऐसे निबंधों को विद्वानों ने चार भागों में बाटा है—वर्णनात्मक (Descriptive), विवरणात्मक (Narrative), विचारात्मक (Replective), भावात्मक (Emotional)।

वर्णनात्मक : निबंधो में विषय का व्यौरेवार वर्णन होता है। प्रस्तुत संग्रह में 'टेलीविजन' ऐसा ही निबंध है।

विवरणात्मक : निबधों में विषय का विवरण दिया जाता है। पूरे निबंध में काल के कई स्तर होते हैं। वर्णन क्रमशः बदलता रहता है। प्रस्तुत संकलन में 'ठेले पर हिमालय' इसका अच्छा उदाहरण है।

विचारात्मक : निबंध में तर्क द्वारा किसी समस्या का समाधान अथवा निष्कर्ष निकाला जाता है। 'ओलिम्पिक में भारतीय हॉकी दल की पराजय' इसका अच्छा उदाहरण है।

भावात्मक : निबंधों में हृदय की रागात्मिका-वृत्ति प्रधान होती है। सरदार पूर्णसिंह और डॉ० रघुवीर सिंह के निबंध इसके अच्छे उदाहरण हैं।

●●

विषय-भेद के कारण निबंधों के अनेक रूप होते हैं, जिससे वह कहीं कहानी के रूप में लक्षित होता है, तो कहीं रेखाचित्र बन जाता है। कहीं रिपोर्ताज, तो कहीं संस्मरण। इसी प्रकार कहीं यात्रा वर्णन का रूप ग्रहण करता है, तो कहीं हास्य-व्यंग्य के रूप में पाठकों का मनोरंजन करता है। इन सभी रूपों का एक मात्र कारण वस्तु और ट्रीटमेंट है। लेखक जिस वस्तु को जिस रूप में ग्रहण करता है, वही उसका रूप बन जाता है।

रेखाचित्र : निबंधों का एक मोहक रूप है जिसमें व्यक्ति विशेष या प्राकृतिक वैभव का चित्रात्मक वर्णन होता है। भेद मात्र इतना ही है कि चित्रकारिता में जहां रेखाओं का प्रयोग होता है, वहाँ रेखाचित्र में शब्दों का। कदाचित् इसी कारण कतिपय समीक्षकों ने रेखाचित्र को शब्दचित्र कहना अधिक पसन्द किया है। रेखाचित्रों के सहारे कोई भी सुधी चित्रकार अपनी तुलिका से अच्छा-सा चित्र बना सकता है। महादेवी वर्मा के रेखाचित्र इसके अच्छे उदाहरण हैं।

रिपोर्ताज मूलतः पत्रकारिता का विषय है परंतु इसकी उपयोगिता साहित्य के क्षेत्र में कम नहीं है, फिर साहित्यिक रिपोर्ताज और पत्रकार की रिपोर्ट में वहुत अन्तर है। जहाँ पत्रकार तथ्यों और घटनाओं पर अधिक वल देता है, वहाँ साहित्यकार आत्मानुभूति पर। साहित्यिक रिपोर्ताज पर लेखक का व्यक्तित्व छाया रहता है। हिंदी में ठाकुरप्रसाद सिंह और लक्ष्मीचन्द्र जैन के रिपोर्ताज अधिक प्रिय हैं।

यात्रावर्णन : में किसी देश या स्थान की यात्रा का सजीव वर्णन होता है जिसके अध्ययन से पाठक का अशरीरी मन घर बैठे ही देश-देशान्तर का भ्रमण कर लेता है। उसका श्रम भार कम होता है जिससे वह पुनः संजीवनी शक्ति पाकर कर्मपथ की ओर अग्रसर होता है। हिंदी में राहुल सांकृत्यायन, अज्ञेय, महादेवी वर्मा और धर्मवीर भारती के यात्रा-वर्णन बहुत सजीव हैं।

संस्मरण : संस्मरणात्मक निबंधों में बीते काल की घटनाओं का बहुत प्रभावकारी वर्णन होता है जिसके अध्ययन के पश्चात् पाठक थोड़े समय के लिए अतीतकाल की घटनाओं में खो जाता हैं। पुराना, फिल्म रील की तरह आखों के सामने नाच उठता है। हिंदी में महादेवी वर्मा के संस्मरण अद्वितीय हैं। प्रस्तुत संग्रह में 'गिल्लू' एक ऐसा ही संस्मरण है।

हास्य और व्यंग्य : हास्य और व्यंग्यात्मक निवंधों में विषय का संयोजन कुछ इस प्रकार होता है कि पाठक हास्य रस से आप्लावित हो सके और उसकी बनावटी मनोवृत्ति पर चोट भी पहुँचे, जिससे वह स्वाभाविक जीवन अंगीकृत कर सके। प्रसिद्ध लेखक राबर्ट सी० ह्विटफोर्ड ने कुशल व्यंग्यकार की

प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए लिखा है—"एक योग्य और कठोर युद्ध-कला विशेषज्ञ की तरह कभी वह विरोधाभासों की झाड़ियों के भीतर से छिपकर और कभी शिकायत और आरोपों के द्वारा खुलेआम सामने से आक्रमण करता है। एक चतुर कूटनीतिज्ञ की तरह वह अपने दोस्तों को दुश्मनों से लड़ा देता है, वह हमेशा केवल तीखे व्यंग्यों या बुद्धिमय तर्कों के द्वारा ही नहीं बल्कि आरोप्य व्यक्ति या पदार्थ के विरुद्ध किसी भिन्न आदर्श का व्यक्ति या पदार्थ को खड़ा करके भी अपना उद्देश्य सिद्ध कर लेता है। वह मौके की तलाश में झाड़ियों में छिपा रह सकता है; पर कभी भी सुरक्षात्मक ढंग नहीं अपनाता।" हिंदी में ऐसे व्यंग्य लेखकों में प्रभाकर माचवे, हरिशंकर परसाई, अमृतलाल नागर, केशवचन्द्र वर्मा, इन्द्रनाथ मदान आदि प्रसिद्ध हैं।

इसके अतिरिक्त भी निबंधों के अनेक रूप हो सकते हैं परन्तु उन्हें इन रूपों के भीतर समेटा जा सकता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि निबंधों का वर्गीकरण करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है और जो भी वर्गीकरण होगा वह अपूर्ण ही होगा, भले ही उससे पूर्णता का बोध हो।

●●●

प्रायः प्रत्येक उच्चकोटि के निबंधकारों की अपनी व्यक्तिगत शैली होती है जिसके आधार पर उन्हें हजारों के बीच पहचाना जा सकता है। यद्यपि विषय-प्रधान निबंधकारों की शैलियों में समरूपता की काफी संभावना रहती है फिर भी कुछ तत्त्व ऐसे मिल ही जाते हैं जिनके द्वारा उनका वैशिष्ट्य प्रकट हो जाता है और वे भी पहचान लिये जाते हैं। व्यक्तिव्यंजक निबंधों में यह तत्त्व इतना मुखर होता है कि लेखक को पहचानने में थोड़ी भी कठिनाई नहीं होती क्योंकि ऐसे निबंधों में शैली का संदर्भ व्यक्तित्व से जुड़ा होता है। इसी कारण ऐसे निबंधकारों की शैली का अनुकरण नहीं हो पाता। फिर शैली अर्जित नहीं—सहजात संस्कार है। इस संदर्भ को स्पष्ट करते हुए आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"तत्त्व चिंतक या वैज्ञानिक से निबंध-लेखक की भिन्नता इस बात में भी है कि निबंध-लेखक जिधर चलता है उधर संपूर्ण मानसिक सत्ता के साथ—अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिये हुए। जो करुण प्रकृति के हैं उनका मन किसी बात को लेकर, अर्थ संबंध सूत्र पकड़े हुए, करुण स्थलों की ओर झुकता और गंभीर वेदना का अनुभव करता हुआ चलता है। जो विनोदशील हैं उनकी दृष्टि उसी बात को लेकर ऐसे पक्षों की ओर दौड़ती है जिन्हें सामने पाकर कोई हंसे बिना नहीं रह सकता। पर सब अवस्थाओं में कोई एक बात अवश्य चाहिए। इस अर्थगत विशेषता के आधार पर ही भाषा और अभिव्यंजना प्रणाली की विशेषता तथा शैली की विशेषता खड़ी हो सकती है। जहाँ नाना अर्थ संबंधों का वैचित्र्य नहीं, जहाँ गतिशील अर्थ की परंपरा नहीं, वहाँ एक ही स्थान पर खड़ी-खड़ी, तरह-तरह की मुद्रा और उछल-कूद दिखाती हुई भाषा केवल तमाशा करती हुई जान पड़ती है।"

शुक्लजी के उक्त उद्धरण से इतना तो स्पष्ट ही है कि शैली की सुन्दरता मस्तिष्क और हृदय को संतुलित बनाये रखने में है। यदि शैली इस लायक नहीं है तो उसे छोड़ देना चाहिए। उससे विषयतत्त्व को क्षति पहुँच सकती है। संभवतः इसी कारण गुलाबराय ने विषय को ध्यान में रखते हुए शैली को पाँच भागों में विभक्त किया है—समास, व्यास, धारा, तरंग और विक्षेप।

समास :—समास शैली में संक्षेप में अधिक कहने की चेष्टा होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अधिकांश निबंध इसी शैली में लिखे गये हैं।

व्यास :—व्यास शैली में वस्तु को उचित फैलाव के साथ अच्छी तरह समझाया जाता है। महादेवी वर्मा के यात्रा-वर्णन से संबंधित लेख इसी शैली में प्रस्तुत हैं।

धारा : इसमें भावों का प्रवाह धारा की तरह दिशा विशेष की ओर प्रवाहित होता है। भावों के प्रकाशन में चढ़ाव-उतार नहीं होता।

तरंग : तरंग शैली में विचारों का चढ़ाव-उतार तरंगों की तरह होता है। व्यक्तिव्यंजक निबंधों की यह प्रमुख शैली है। सरदारपूर्ण सिंह, विद्यानिवास मिश्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी और कुबेरनाथ राय के अधिकांश निबंध इसी शैली में हैं।

विच्छेप : विक्षेप शैली में विचारों का तारतम्य असंतुलित होता है। भाव ग्रहण में कठिनाई होती हैं। वियोगी हरि और रघुबीर सिंह के अनेक निबंध इस शैली में लिखे गये हैं।

संक्षेप में हिंदी निबंध आज अपने संपूर्ण स्वरूप में पूर्ण विकसित साहित्य विधा के रूप में प्रतिष्ठित है। उसके विकास की काफी संभावना है। यद्यपि हिंदी निबंध ने अपने शैशवावस्था में ही सुदृढ़ आधारशिला प्राप्त कर लिया था परन्तु उसे बाल्यकाल में द्विवेदीयुगीन परिस्थितियों से एक झटका अवश्य लगा फिर भी वह जीने की संजीवनी शक्ति लिये यात्रा करता हुआ आधुनिक युग में (स्वातंत्र्योत्तर काल में) प्रविष्ट हो ही गया और विकास की चरम सीमा पर पहुंच गया। आज उसके रूप, शैली और प्रकार पर आधृत उच्चकोटि के सैकड़ों निबंध उपलब्ध हैं जिनकी तुलना विश्व की किसी भी समुन्नत भाषा में लिखे गये निबंधों से की जा सकती है। यह हिन्दी निबंध साहित्य के लिये शुभ है।

ठेले पर हिमालय

धर्मवीर भारती

'ठेले पर हिमालय'—खासा दिलचस्प शीर्षक है न ! और यकीन कीजिए, इसे बिलकुल ढूँढ़ना नहीं पड़ा है। बैठे-बिठाए मिल गया। अभी कल की बात है, एक पान की दूकान पर मैं अपने एक गुरुजन उपन्यासकार मित्र के साथ खड़ा था कि ठेले पर बर्फ की सिलें लादे हुए बर्फवाला आया। ठंडी, चिकनी, चमकती बर्फ से भाप उड़ रही थी। मेरे मित्र का जन्मस्थान अल्मोड़ा है। वे क्षण भर उस बर्फ को देखते रहे, उठती हुई भाप में खोए रहे और खोए-खोए से ही बोले, "यह बर्फ तो हिमालय की शोभा है।" और, तत्काल शीर्षक मेरे मन में कौंध गया, 'ठेले पर हिमालय'। पर आपको इसलिए बता रहा हूँ कि अगर आप नये कवि हों, तो भाई इसे ले जाएं और इस शीर्षक पर दो-तीन सौ पंक्तियाँ वेडौल, वेतुकी लिख डालें—शीर्षक मौजूद है और अगर नयी कविता से नाराज हों, सुललित हों, तो भी गुंजाइश है, इस बर्फ को डाँटे, "उतर आओ। ऊँचे शिखर पर बन्दरों की तरह क्यों चढ़ी बैठी हो ? ओ नयी कविता ! ठेले पर लदो। पान की दूकानों पर बिको।"

ये तमाम बातें उसी समय मेरे मन में आयीं और मैंने अपने गुरुजन मित्र को बताई भी। वे हँसे भी, पर मुझे लगा कि वह बर्फ कहीं उनके मन को खरोंच गई है और ईमान की बात यह है कि जिसने ५० मील दूर से भी बादलों के बीच नीले आकाश में हिमालय की शिखर-रेखा को चाँद-तारों से बात करते देखा है, चाँदनी में उजली बर्फ को धुंध के हलके नीचे जाल में दूधिया समुद्र की तरह मचलते और जगमगाते देखा है, उसके मन पर हिमालय की बर्फ एक ऐसी खरोंच छोड़ जाती है जो हर बार याद आने पर पिरा उठती है। मैं जानता हूँ, क्योंकि वह बर्फ मैंने भी देखी है।

सच तो यह है कि सिर्फ बर्फ को बहुत निकट से देख पाने के लिए ही हम लोग कौसानी गये थे—नैनीताल से रानीखेत और रानीखेत से मझकाला के

भयानक मोड़ों को पार करते हुए कोसी। कोसी से एक सड़क अल्मोड़े चली जाती है, दूसरी कौसानी। कितना कष्टप्रद, कितना सूखा और कितना कुरूप है वह रास्ता। पानी का कहीं नाम-निशान नहीं, सूखे-भूरे पहाड़, हरियाली का नाम नहीं। ढालों को काटकर बनाये हुए टेढ़े-मेढ़े खेत, जो थोड़े से हों, तो शायद अच्छे भी लगें? पर उनका एक रस सिलसिला विलकुल शैतानी की आँत मालूम पड़ता है। फिर मझकाली के टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर अल्मोड़े का एक नौसिखिया और लापरवाह ड्राइवर—जिसने बस के तमाम मुसाफिरों की ऐसी हालत कर दी थी कि जब हम कोसी पहुंचे तो सभी मुसाफिरों के चेहरे पीले पड़ चुके थे। कौसानी जानेवाले सिर्फ हम दो थे, वहीं उतर गये। बस अल्मोड़े चली गई। सामने के एक स्टाल के शेड में काठ की बेंच पर बैठकर हम वक्त काटते रहे। तवीयत सुस्त थी और मौसम में उमस थी। दो घंटे वाद दूसरी लॉरी आकर रुकी और जब उसमें से प्रसन्न-वदन शुक्ल जी को उतरते देखा, तो हम लोगों की जान-में-जान आई। शुक्ल जी जैसा सफर का साथी पिछले जन्म के पुण्यों से ही मिलता है। उन्हों ने हमें कौसानी आने का उत्साह दिलाया था और खुद तो कभी उनके चेहरे पर थकान या सुस्ती दीखी ही नहीं थी, उन्हें देखते ही हमारी भी सारी थकान काफूर हो जाया करती थी।

पर, शुक्लजी के साथ यह नई मूर्ति कौन है? लम्बा-दुबला शरीर, पतला साँवला चेहरा, एमिल जोला-सी, दाढ़ी, ढीला-ढाला पतलून, कन्धे पर पड़ी हुई ऊनी जर्किन, बगल में लटकता हुआ जाने थर्मस या कैमरा या बाइनाकुलर। और, खासी अटपटी चाल थी बाबू साहब की। यह पतला-दुबला मुझ जैसा मींकिया शरीर और उस पर आपका झूमते हुए आना—मेरे चेहरे पर निरन्तर घनी होती हुई उत्सुकता को ताड़कर शुक्ल जी ने कहा—"हमारे शहर के मशहूर चित्रकार हैं सेन, अकादमी से इनकी कृतियों पर पुरस्कार मिला है। उसी रुपये से घूमकर छुट्टियाँ विता रहे हैं।" थोड़ी ही देर में हम लोगों के साथ सेन घुल-मिल गया, कितना मीठा था हृदय से वह! वैसे उसके करतब आगे चलकर देखने में आए!

कोसी से बस चली तो रास्ते का सारा दृश्य बदल गया। सुडौल पत्थरों पर कल-कल करती हुई कोसी, किनारे के छोटे-छोटे सुन्दर गाँव और हरे

मखमली खेत। कितनी सुन्दर है सोमेश्वर की घाटी! हरी-भरी। एक के बाद बस-स्टेशन पड़ते थे, छोटे-छोटे पहाड़ी डाकखाने, चाय की दुकानें और कभी-कभी कोसी या उसमें गिरनेवाले नदी-नालों पर बने हुए पुल। कहीं-कहीं सड़क निर्जन चीड़ के जंगलों से गुजरती थी। टेढ़ी-मेढ़ी ऊपर-नीचे रेंगती हुई कंकड़ीली पीठवाले अजगर-सी सड़क पर धीरे-धीरे बस चली जा रही थी। रास्ता सुहावना था और उस थकावट के बाद उसका सुहावनापन हमको और भी तन्द्रालस बना रहा था। पर ज्यों-ज्यों बस आगे बढ़ रही थी—त्यों-त्यों हमारे मन में एक अजीब-सी निराशा छाती जा रही थी—अब तो हम लोग कौसानी के नजदीक हैं, कोसी से १८ मील चल आये, कौसानी सिर्फ छह मील है, पर कहाँ गया वह अतुलित सौन्दर्य, वह जादू जो कौसानी के बारे में सुना जाता था। आते समय मेरे एक सहयोगी ने कहा था कि काश्मीर के मुकाबले में उन्हें कौसानी ने अधिक मोहा है. गांधीजी ने यहीं अनासक्ति योग लिखा था और कहा था स्विटजर लैंड का आभास कौसानी में ही होता है। ये नदी, घाटी, खेत, गाँव सुन्दर हैं किन्तु इतनी प्रशंसा के योग्य तो नहीं ही हैं। हम कभी-कभी अपना संशय शुक्ल जी से व्यक्त भी करने लगे और ज्यों-ज्यों कौसानी नजदीक आती गई त्यों-त्यों अधैर्य, फिर असन्तोष और अन्त में तो क्षोभ हमारे चेहरे पर झलक आया। शुक्ल जी की क्या प्रतिक्रिया थी हमारी इन भावनाओं पर यह स्पष्ट नहीं हो पाया; क्योंकि वे बिलकुल चुप थे। सहसा बस ने एक बहुत लम्बा मोड़ लिया और ढाल पर बढ़ने लगी।

सोमेश्वर की घाटी के उत्तर में जो ऊँची पर्वतमाला है, उसी पर, बिलकुल शिखर पर कौसानी बसा हुआ है। कौसानी से दूसरी ओर फिर ढाल शुरू हो जाता है। कौसानी के अड्डे पर जाकर बस रुकी। छोटा-सा बिलकुल उजड़ा-सा गाँव और बर्फ का तो कहीं नाम-निशान नहीं। बिलकुल ठगे गये हम लोग। कितना खिन्न था मैं। अलसाते हुए बस से उतरा कि जहाँ था वहीं पत्थर की मूर्ति-सा स्तब्ध खड़ा रह गया। कितना अपार सौंदर्य बिखरा था सामने की घाटी में। इस कौसानी की पर्वतमाला ने अपने अंचल में यह जो कत्थूर की रंग-बिरंगी घाटी छिपा रखी है, इसमें किन्नर और यक्ष ही तो वास करते होंगे। पचासों मील चौड़ी यह घाटी, हरे मखमली कालीनों-

जैसे खेत, सुन्दर गेरु की शिलाएं काटकर बने हुए लाल-लाल रास्ते, जिनके किनारे सफेद-सफेद पत्थरों की कतार और इधर-उधर से आकर आपस में उलझ जाने वाली वेले की लड़ियों-सी नदियां। मन में वेसाख्ता यही आया कि इन बेलों की लड़ियों को उठाकर कलाई में लपेट लूं। अकस्मात् हम एक दूसरे लोक में चले आये थे। इतना सुकुमार, इतना सुन्दर, इतना सजा हुआ और इतना निश्कलंक—कि लगा इस धरती पर तो जूते उतार कर, पाँव पोछकर आगे बढ़ना चाहिए। धीरे-धीरे मेरी निगाहों ने इस घाटी को पार किया और जहां से हरे खेत और नदियां और बन, क्षितिज के धुँधलेपन में, नीले कोहरे में घुल जाते थे, वहाँ पर कुछ छोटे पर्वतों का आभास अनुभव किया। उसके वाद वादल थे और फिर कुछ नहीं। कुछ देर उन वादलों में निगाह भटकती रही कि अकस्मात् फिर एक हल्का-सा विस्मय का धक्का मन को लगा। इन धीरे-धीरे खिसकते हुए वादलों में यह कौन चीज है जो अटल है। यह छोटा वादल के टुकड़े-सा और अजव रंग है इसका, न सफेद, न रुपहला, न हल्का नीला—पर तीनों का आभास देता हुआ यह है क्या? वर्फ तो नहीं है। हाँ जी! वर्फ नहीं है, तो क्या है? और अकस्मात् बिजली-सा यह विचार मन में कौंधा कि इसी कत्थूर घाटी के पार वह नगाधिराज पर्वत-सम्राट् हिमालय हैं, इन बादलों ने उसे ढाँक रखा है। वैसे वह क्या सामने है। वैसे वह क्या है? उसका एक कोई छोटा-सा वाल-स्वभाव वाला शिखर वादलां की खिड़की से झाँक रहा है। मैं हर्षातिरेक से चीख उठा, "वरफ, वह देखो!" शुक्ल जी, सेन, सभी ने देखा, पर अकस्मात् वह फिर लुप्त हो गया। लगा उसे वाल-शिखर जान किसी ने अन्दर खींच लिया कि खिड़की से झाँक रहा है, कहीं गिर न पड़े।

पर, उस एक क्षण के हिम-दर्शन ने हम में जाने क्या भर दिया था? सारी खिन्नता, निराशा, थकावट—सब छूमन्तर हो गयी। हम सब आकुल हो उठे। अभी ये वादल छट जायेंगे और फिर हिमालय हमारे सामने खड़ा होगा—निरावृत्त असीम सौन्दर्यराशि हमारे सामने अभी-अभी अपना घूँघट धीरे-से खिसका देगी और—और तव? सचमुच मेरा दिल बुरी तरह धड़क रहा था। शुक्ल जी शांत थे; केवल मेरी ओर देखकर कभी-कभी मुस्करा देते थे, जिसका

अभिप्राय था, 'इतने अधीर थे, कौसानी आई भी नहीं और मुंह लटका लिया ! अब समझे यहाँ का जादू !' डाक-बंगले के खानसामें ने बताया कि "आप लोग बड़े खुशकिस्मत हैं, साहब। १४ टूरिस्ट आकर हफ्ते भर पड़े रहे, वर्फ नहीं दीखी। आज तो आपके आते ही आसार खुलने के हो रहे हैं।"

सामान रख दिया गया। पर मैं, मेरी पत्नी, सेन, शुक्ल जी सभी बिना चाय पिये सामने के बरामदे में बैठे रहे और एकटक सामने देखते रहे। बादल धीरे-धीरे नीचे उतर रहे थे और एक-एक कर नये-नये शिखरों की हिम-रेखाएं आनावृत्त हो रही थीं। और, फिर सब खुल गया। बाईं ओर से शुरू होकर दाईं ओर गहरे शून्य में धँसती जाती हुई हिमशिखरों की ऊबड़-खाबड़ रहस्यमयी रोमांचक श्रृंखला। हमारे मन में उस समय क्या भावनाएं उठ रही थीं ? यह अगर बता पाता तो यह खरोंच, यह पीर ही क्यों रह गई होती ? सिर्फ एक धुँधला-सा सम्वेदन इसका अवश्य था कि जैसे बर्फ की सिल के सामने खड़े होने पर मुंह पर ठंडी-ठंडी भाप लगती है, वैसे ही हिमालय की शीतलता माथे को छू रही है और सारे संघर्ष, सारे अन्तर्द्वन्द्व, सारे ताप जैसे नष्ट हो रहे हैं। क्यों पुराने साधकों ने दैहिक, दैविक और भौतिक कष्टों को ताप कहा था और उसे नष्ट करने के लिए वे क्यों हिमालय जाते थे ? यह पहली बार मेरी समझ में आ रहा था। और, अकस्मात् एक दूसरा तथ्य मेरे मन के क्षितिज पर उदित हुआ। कितनी पुरानी है यह हिमराशि ! जाने किस आदिम काल से यह शाश्वत, अविनाशी हिम इन शिखरों पर जमा हुआ है। कुछ विदेशियों ने इसीलिए हिमालय की इस बर्फ को कहा है—चिरंतन-हिम। सूरज ढल रहा था और सुदूर शिखरों पर दूर, ग्लेशियर, ढाल, घाटियों का क्षीण आभास मिलने लगा था। आतंकित मन से मैंने यह सोचा था कि पता नहीं इन पर कभी मनुष्य का चरण पड़ा भी है या नहीं या अनन्तकाल से इन सूने बर्फ-ढँके दरों में सिर्फ बर्फ के अन्धड़ हू-हू करते हुए बहते रहे हैं।

सूरज डूबने लगा और धीरे-धीरे ग्लेशियरों में पिघली केशर बहने लगी। बरफ कमल के लाल फूलों में बदलने लगी, घाटियां गहरी नीली हो गई। अन्धेरा होने लगा तो हम उठे और मुँह-हाथ धोने और चाय पीने में लगे। पर

सब चुपचाप थे, गुमसुम, जैसे सबका कुछ छिन गया हो, या शायद सबको कुछ ऐसा मिल गया हो जिसे अन्दर-ही-अन्दर सहेजने में सब आत्मलीन हो अपने में डूब गये हों।

थोड़ी देर में चाँद निकला और हम फिर बाहर निकले इस बार सब शान्त था। जैसे हिम सो रहा हो। मैं थोड़ा अलग आराम कुर्सी खींचकर बैठ गया। यह मेरा मन इतना कल्पनाहीन क्यों हो गया है? इसी हिमालय को देखकर किसने-किसने क्या-क्या नहीं लिखा और यह मेरा मन है कि एक कविता तो दूर, एक पंक्ति, हाय एक शब्द भी तो नहीं जागता। पर कुछ नहीं, यह सब कितना छोटा लग रहा है, इस हिम-सम्राट् के समक्ष। पर धीरे-धीरे लगा कि मन के अन्दर भी वादल थे जो छँट रहे हैं। कुछ ऐसा उभर रहा है जो इन शिखरों की ही प्रकृति का हैं—कुछ ऐसा जो इसी ऊंचाई पर उठने की चेष्टा कर रहा है, ताकि इनसे इन्हीं के स्तर पर मिल सके। लगा, यह हिमालय बड़े भाई की तरह ऊपर चढ़ गया है और मुझे⋯⋯छोटे भाई को नीचे खड़ा हुआ, कुंठित और लज्जित देखकर थोड़ा उत्साहित भी कर रहा है, स्नेहभरी चुनौती भी दे रहा है⋯⋯"हिम्मत है? ऊँचे उठोगे?"

और सहसा सन्नाटा तोड़कर सेन रवीन्द्र की कोई पंक्ति गा उठा और जैसे तन्द्रा टूट गयी। और, हम सक्रिय हो उठे⋯⋯अदम्य शक्ति, उल्लास, आनन्द जैसे हममें झलक पड़ रहा था। सवसे अधिक खुश था सेन, बच्चों की तरह चंचल, चिड़ियों की तरह चहकता हुआ। बोला—"भाई साहव, हम तो वण्डर-स्ट्रक हैं कि यह भगवान् का क्या-क्या करतूत इस हिमालय में होता है।" इस पर हमारी हँसी मुश्किल से ठंढी हो पायी थी कि अकस्मात् वह शीर्षासन करने लगा। पूछा गया तो बोला, "हम हर पर्सपेक्टिव से हिमालय देखूँगा।" वाद में मालूम हुआ कि वह वम्वई की अत्याधुनिक चित्रशैली से थोड़ा नाराज है और कहने लगा, "ओ सब जीनियस लोग शीर का वल खड़ा होकर दुनिया को देखता है। इसी से मैं शीर का वल हिमालय देखता हूँ।"

दूसरे दिन घाटी में उतर कर १२ मील चलकर हम बैजनाथ पहुँचे, जहाँ गोमती बहती है। गोमती की उज्ज्वल जलराशि में हिमालय की बर्फीली चोटियों की छाया तैर रही थी। पता नहीं, उन शिखरों पर कब पहुँचूँ,

कैसे पहुंचूं ? पर उस जल में तैरते हुए हिमालय से जी भरकर भेंटा; उसमें डूबा रहा।

आज भी उसकी याद आती है, तो मन पिरा उठता है। कल ठेले की बर्फ को देखकर वे मेरे मित्र उपन्यासकार जिस तरह स्मृतियों में डूब गये, उस दर्द को समझता हूँ और जब ठेले पर हिमालय की बात कहकर हंसता हूँ, तो यह उस दर्द को भुलाने का ही बहाना है। वे बर्फ की ऊँचाइयां बार-बार बुलाती हैं और हम हैं कि चौराहों पर खड़े, ठेले पर लदकर निकलने वाली बर्फ को ही देखकर मन बहला लेते हैं। किसी ऐसे ही क्षण में, ऐसे ही ठेलों पर लदे हिमालयों से घिर कर ही तो तुलसी ने नहीं कहा था—"कबहुंक हौं यहि रहनि रहौंगो—मैं क्या कभी ऐसे भी रह सकूंगा ?" वास्तविक हिमशिखरों की ऊँचाइयों पर ? और, तब मन में आता है कि फिर हिमालय को किसी के हाथ सन्देश भेज दूं—"नहीं बन्धु जाऊँगा। मैं फिर लौटकर वहीं जाऊंगा। उन्हीं ऊँचाइयों पर तो मेरा आवास है। वहीं मेरा मन रमता है—मैं करूं तो क्या करूं ?"

घोषणा-पत्र

अमृतलाल नागर

इस वार भी अगस्त के महीने में जब हमारी किताबों की रायल्टी की राशि चढ़ती महंगाई के मुकाबले में एकदम औसत ही आई, तो हम अपने पेशे की आय रूपी अकिंचनता से एकदम चिढ़ उठे, हमने यह तय किया कि अब लिखना छोड़कर कोई और धंधा करेंगे। मगर क्या करें, यह समझ में न आता था। कई विगड़े रईसों के बारे में सुना था कि जिन आदतों से वे बिगड़े थे, उन्हीं में नये लक्ष्मी-वाहनों के पट्ठों को फंसाकर उनके पैसे के बल पर वे शान से अपनी जिंदगी बसर कर सके थे। पर हमारी लत तो बुरी ही नहीं निकम्मी भी थी, यानी साहित्यिक बन गये थे। और यह साहित्यिकता आमतौर से रईस छौनों के मनबहलाव की वस्तु ही नहीं होती, इसलिए हमारे वास्ते यह साहित्यिक इल्लत उस रूप में भी वेकार थी। दूसरा विचार आया कि पान और भंग-ठंडाई की दुकान खोल लें। जगत्-प्रसिद्ध साहित्यिक नहीं बन सके, तो न सही, 'जगत्-प्रसिद्ध तांबूल विक्रेता' का साइनबोर्ड टांगने का शानदार मौका मिल जाना भी अपने-आप में कम महत्त्वपूर्ण उपलब्धि न होगी। ठंडाई के तो हमें ऐसे-ऐसे नुस्खे मालूम हैं कि शहर के सारे ठंडाई वाले हमारे आगे ठंडे हो जाएंगे। सीधे गवर्नर से ही दुकान का उद्घाटन कराया जाएगा; उन्होंने अपने शासनकाल में अब तक हर तरह के उद्घाटन कृपा पूर्वक कर डाले हैं, वस पान-ठंडाई की दुकान ही अब तक नहीं खोली, खुशी से चले आएंगे। धूम मच जायगी। बस यही होगा कि चार लोग हमारा मजाक उड़ाएंगे कि नागर जी ने पान-ठंडाई की दुकान खोली है। अरे उड़ाया करें, 'आहारे-व्यवहारे, लज्जा नकारे।' जब इतने बड़े महाकवि जयशंकर प्रसाद अपने पैतृक-पेशेवश सुघनी साहु कहलाने से न सकुचाए, तो पान-ठंडाई कहलाने से भला हम ही क्यों शर्माएं!

भांग के गहरे नशे में इस स्कीम पर हम जितना ही अधिक गौर करते गए, उतनी ही हमारी आस्था भी बढ़ती गई। हमें यही लगा कि जैसी

आस्था हमें इस व्यापार योजना से मिल रही है, वैसी किसी साहित्यिक योजना से अब तक मिली ही न थी। अस्तित्ववाद, शाश्वतवाद, रस-सिद्धान्त, पूंजीवाद, लोकतंत्रवाद, भारतीय संस्कृतिवाद, आदि हर दृष्टि से हमारी यह दुकान-योजना परम ठोस थी। इसलिए मन पोढ़ा करके हमने अपने दोनों लड़कों को बुलाकर अपने मन की बात कही। छोटा बोला, "वाबूजी, मैं तो सपने में भी यह कल्पना नहीं कर सकता कि आप दुकानदार बन सकते हैं।"

हमने आस्थायुक्त स्वर में उत्तर दिया, "वेटे, यथार्थ सदा कल्पना से अधिक विचित्र रहा है। जहां इच्छा है, वहां गति भी है। जवाहरलाल नेहरू का एक वाक्य है कि सफलता प्रायः उन्हीं को मिलती है, जो साहस के साथ कुछ कर गुजरते हैं; कायरों के पास वह क्वचित ही जाती है।"

वड़े वेटे ने कहा, "आप जैसे जाने-माने लेखक के लिए यह शोभन नहीं लगता, वाबू जी। यदि अपनी नहीं, तो कम से कम हम लोगों की बदनामी का ही ख्याल कीजिए।"

हमने तुर्की-वतुर्की जवाब दिया, "तुम लोगों का यह आवरूदारी का हौवा निहायत बुर्जुआ किस्म का है। हम घर आती हुई छमाछम लक्ष्मी को देख रहे हैं। तुम लोग यह क्यों नहीं देखते कि दुकान की सफलता के लिए हमारी साहित्यिक गुडविल, पान और भांग-रसिया होने के संवंध में हमारी अनोखी किंवदंतियों-भरी ख्याति कितनी लाभकारी सिद्ध होगी। चार-पांच हजार रुपये महीने से कम आमदनी न होगी। तुम लोग चाहे कुछ भी कहो, हम यह दुकान जरूर खोलेंगे। हजार-दो हजार की लागत में लाखों का नफा। हम यह अवश्य करेंगे।"

लड़के बेचारे हमारे आगे भला क्या बोलते। उठ कर चले गये और जाकर अपनी मां के आगे शंख फूका। तोप के गोले की तरह लाल-लाल, दनदनाती हुई वह हमारे कमरे में आई और बोलीं, "ये दुकान खोलने की बात आखिर तुम्हें क्यों सूझी ?"

"पैसा कमाने के लिए।"

"पैसा तो खाने-भर को भगवान् दे ही रहा है।"

"हमें ऐश करने के लिए पैसा चाहिए।"

"इस उमर में ! अब भला क्या ऐश करोगे ! जो करना था, कर चुके।"

"ऐश का अर्थ सिर्फ औरत और शराब ही नहीं होता, देवी जी, हम कार, बंगला, रेफ्रिजिरेटर, कूलर और डनलोपिलो के गद्दे चाहते हैं। प्राइवेट सेक्रेटरी हो, स्टेनोग्राफर हो, हांजी-हांजी करने वाले दस नौकर हाथ बांधे हरदम खड़े रहें, तब साहित्यिक की वकत होती है आजकल। साले पेटभरू, चप्पल चटकाऊ साहित्यिक का भला मूल्य क्या रह गया है, भले ही वह तीस नहीं, एक सौ तीसमार खाँ ही क्यों न हो ! हम पूछते हैं, क्या तुम्हें चाह नहीं होती इस वैभव की ?"

पत्नी शांत हो गईं; गंभीर स्वर में बोलीं, "जब मुझे चाह थी, तब तो तुम यह कहते थे कि साहित्यिक का वैभव साहित्य होता है···"

"वो हमारी भूल थी। सोशलिस्ट विचारों ने हमारा दिमाग खराब कर दिया था।"

"पर मैं तो समझती हूँ कि तुम्हारी वह दिमाग-खराबी ही बहुत अच्छी थी।"

"तुम कुछ भी समझती रहो, पर हम तो अब पैंसे वाले बनकर ही रहेंगे।"

"बनो, जो चाहो सो बनो, पर कान खोलकर सुन लो, मैं इस काम के लिए एक कानी कौड़ी भी न दूँगी इस रायल्टी की रकम में से।" पत्नी अब तेज हो चली थी।

हमने भी अकड़कर कहा, "न दो, हम एक नया उपन्यास लिखकर एडवांस रायल्टी ले लेंगे।"

"जो चाहो सो करो। जब अपनी बनी तकदीर बिगाड़ने पर तुल ही गये हो, तो कोई क्या कर सकता है ! हिः, रुपये की दो अठन्नियां भुनाना तो आता नहीं, बिजनेस करेंगे ये !" पत्नी तैश में आकर बड़बड़ाती हुई बाहर चली गई और बरामदे में खड़ी होकर गरजने लगीं, "ये बिजनेस करेंगे ! अरे, चार बरस पहले नरेन्द्रजी का लड़का परितोष आया था। कितना छोटा था तब वह, फिर भी खेल ही खेल में इन्होंने जब उससे कहा कि हम-तुम साझे में पान की

दुकान खोल लें, तो वह बोला कि नहीं चाचाजी, आपके साथ साझा करने में घाटा हो जायगा। सारे पान और भांग तो ये और इनके यार-दोस्त ही गटक जाएंगे। न ये अपनी आदतें छोड़ सकते हैं और न मुहब्बत। बिजनेस करेंगे मेरा कपाल।"

कविवर नरेन्द्रजी के बेटे वाली बात ध्यान में आ जाने से गुस्सेका चढ़ाव न चाहते हुए भी थमने लगा। यह भी झूठ नहीं कि ठंडाई और पान के शौक में ऐसे बहुत से परिचित मित्र हमारी दुकान पर रोज आ जाएंगे, जिनसे पैसा वसूल करना हमारे लिए टेढ़ी खीर हो जायगा। सोचा कि घरैतिन ठीक ही कहती है, कि इस धंधे में घाटा होने की संभावना ही अधिक है। फिर धीरे-धीरे मन यहां तक मान गया कि हम न तो धंधा करने के योग्य हैं और न कोई नौकरी भी, चाहे वह बढ़िया वाली ही क्यों न हो। अपनी अयोग्यता और अभागेपन पर झुझलाहट होने लगी।

दूसरे दिन इतवार था। इतवार औरों के लिए छुट्टी और हमारे लिए सिर दर्द का दिन होता है। अभी घड़ी में पूरे-पूरे साढ़े सात भी न बजे थे कि बेटी ने आकर मोहल्ले के कई व्यक्तियों के पधारने की सूचना दी। हमने सोचा कि शायद मध्यावधि चुनाव के सिलसिले में किसी उम्मीदवार के नाम का प्रस्ताव लेकर आए होंगे। इस विचार ने मन को स्फूर्ति दी। सोचा, इस बार हम क्यों न खड़े हो जाएं। पान की दुकान न सही, नेतागिरी सही, इन दोनों ही पेशों की आमदनी सदा इनकमटैक्स विभाग वालों की पकड़ से बाहर ही रहती है। इस विचार से एक बार फिर आस्था रूपी ज़ीवनमूल्य की उपलब्धि हुई।

तब तक हाथ में अपना हुक्का उठाए हुए बड़े बाबू, लल्लो बाबू, पत्तो बाबू, सत्तो बाबू, सुनत्तो बाबू वगैरह-वगैरह ढब बेढब नामों के चार-पांच शिष्ट जन पधारे। बड़े बाबू आते ही बोले, "पंडित जी, गली वाली नाली देखी आज आपने ? गंगागोमती फ्लडियाया करती थीं, अब साली नाली में फ्लड आता है। ये जमाना है, ये गवरमेंट है साली !"

"अजी परी गोवरमिंट है साहब, राज भी गोबरनर का है। हम तो कहते हैं कि इस बार मध्यावधि चुनाव में इसे पूरी तरह से बदल डालिए।" अपने

भावी वोटर भगवान को जोश दिलाने की कामना से हमने जरा नेता मार्का नाटकीय अंदाज साधा।

"कहते तो आप ठीक हैं पंडित जी, मगर मध्यावधि चुनाव के अभी चार-पांच महीने पड़े हैं, आप तत्काल की बात सोचिए। कार्पोरेशन में किसी बड़े अफसर को फोन-वोन करके ये गंदगी ठीक करवाइए जल्दी से, अंदर से मेन होल उबल रहा है। बड़ी बदबू फैल रही है बाहर।"

खैर, किस्सा कोताह यह कि मेयर, डिप्टी मेयर, हेल्थ अफसर आदि को फोन करके हमने मेहतर दल को बुलाने में सफलता प्राप्त कर ही ली और उस सफलता के तुफैल में हमने भावी चुनाव में खड़े होने का इशारा भी फेंक दिया। चार दिन में धूम मच गई कि हम खड़े हो रहे हैं।

पत्नी फिर सामने आई, बोली "इलेक्शन लड़ोगे?"

"हां, अब मिनिस्टर बनने का इरादा है।"

"पैसा कौन देगा?"

हमने कहा, "बुद्धिजीवी जब अपना ईमान बेचता है, तो पैसों की कमी नहीं रहती।"

तभी लड़के आए, उन्होंने पूछा, "आप किस पार्टी से इलेक्शन लड़ेंगे?"

हम बोले, "इस समय तो हमारी गुडविल ऐसी जबरदस्त है कि सभी पार्टियां हमें टिकट देना चाहती हैं।"

बड़ा बोला, "मगर इस समय तो इन सब पार्टियों की साख गिरी हुई है। इनमें से एक भी पूरी तरह सफलता नहीं पाएंगी।"

हमने कहा, "सही कहते हो। हम बुद्धिमत्ता से काम लेकर अपनी पार्टी बनाएंगे।"

"आप का मेनिफेस्टो क्या होगा?"

हम गौर करने लगे। अपना स्वार्थ साधने के लिए ऐसा मेनिफेस्टो बनाना चाहिए; जो औरों से अलग लगे और साथ ही पैसा मिलने के साधन भी जुट जाएं। हमने कहा, "देखो, इनमें से कोई भी पार्टी इस बार बहुमत नहीं पाएगी। क्योंकि जनता सबमें अपना विश्वास खो बैठी है। और यहां के सेठ हमें पैसा भी नहीं देंगे, क्योंकि इनमें से कुछ कांग्रेस के साथ हैं और कुछ जनसंघ के। इस

लिए हमारा पहला नारा यह होगा कि भारत के जिन-जिन प्रदेशों में इस समय मध्यावधि चुनाव हो रहा है, उनमें स्थायी शांति और सुशासन लाने के लिए दस बरसों तक पाकिस्तान, अमरीका और ब्रिटेन का सम्मिलित राज होना चाहिए। इससे हिंदू-मुसलिम एकता और स्थायी शांति बढ़ेगी, तथा इन तीनों की तरफ से मुख्यमंत्रित्व का भार हम सभालेंगे। इस त्रिदेशी फार्मूले से हिन्दुस्तान के सारे मसले हल हो जाएँगे। इस तरह देश की पूर्वी और पश्चिमी सीमाओं पर निःशस्त्रीकरण की नीति को अमल में लाने के लिए एक रास्ता खुल जाएगा।"

"ठीक। और क्या होगा आपके मेनिफेस्टो में ?"

विचारों की रोशनी से हमारी आंखें सहसा चौंधिया उठीं। हमने फौरन अपना धूपका चश्मा चढ़ा लिया और गंभीर पैगंबरी स्वर में कहा, "हम अपरिवर्तनवाद का सिद्धान्त चलाएंगे, हिन्दू हिन्दू रहे और मुसलमान मुसलमान। इन्हें एक भारतीय समाज हरगिज न बनने देना चाहिए, हम एक और अखंड भारत के खिलाफ हैं।"

"और भाषा ?"

"भाषा का भूमि और संस्कृति से कोई संबंध नहीं। पाकिस्तान, अमरीका और ब्रिटेन में से जो हमारे इलेक्शन का खर्च उठाने को राजी हो जाएगा, उसकी भाषा का समर्थन करेंगे। वैसे अपनी जनता की सुविधा के लिए हम अंग्रेजी को भारत की राष्ट्र भाषा...."

"क्या कहा ? अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाओगे ! अपने स्वार्थ के लिए हर झूठ को सच बनाओगे ?"

पत्नी के तेहे पर हमने अपनी बौद्धिक मार्का हंसी का गुल खिलाया और कहा, "अरी पगली, नेता और वकीलों की सफलता ही इस बात पर निर्भर करती है।"

"झाड़ू पड़े तुम्हारी नेतागिरी पर। मैं आज से ही तुम्हारा खुला विरोध करूंगी।"

"अरे, पूरी बात तो सुन लो ! देश में इस वक्त अन्न की कमी है...." हम बोले, तो पत्नी ने बात बीच में काट दी, "तुम्हे कौन खाने-पीने की तकलीफ है...जो...."

हमसे आगे सुना नहीं गया। हमने अपना तेहा दिखाया, "ज्यादा बक-बक मत करो···ज्यादा बात करने से भूख भी ज्यादा लगती है···जब तक भारत में औरतों के मुंह पर पट्टी नहीं बांध दी जायगी, तब तक अन्न-समस्या हल होने वाली नहीं है। अन्न मगवाने के लिए हमने तय किया है कि एक टन गेहूं के बदले में हम एक नेता उस देश को सप्लाई करेंगे, जो हमें अन्न देगा। वह सौ टन गेहूं देगा, हम सौ नेता उसे देंगे! वह हजार देगा, तो हम हजार देंगे।"

पत्नी मुंह बाये सुन रही थीं। मौका देखकर हमने और खुलासा किया, "हमारी पार्टी भ्रष्टाचार को शिष्टाचार के रूप में मंजूर करती है, बगैर तकल्लुफ के कहीं राज चलते हैं? घूसखोरी का तकल्लुफ हमारे राज में बराबर बरता जागया! रोजी-रोटी मांगनेवालों की खाल खिचवाकर बाटा वालों को सप्लाई की जायगी, ताकि रूस से अनेवाली जूतों की मांग पूरी की जा सके।

"गीता का यह श्लोक हमारा सिद्धांत वाक्य होगा और नारा भी···

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'

"दकियानूसियों ने इस श्लोक की रेढ़ मार के रख दी है। हम इसका सीधा, सरल और सही अर्थ अपनी धर्मप्राण जनता को समझाएंगे।"

"क्या?" पत्नी ने बिफर के पूछा।

"अरे भाई, सीधी-सी बात है। हर आदमी का अपना अपना धर्म है। चोर का धर्म चोरी करना, डकैत का डाका डालना, बेईमान का बेईमानी करना, इसी तरह गरीब का धर्म है गरीबी और अमीर का अमीरी। गरीब को अमीर का धर्म अपनाने की छूट नहीं दी जाएगी और न अमीर को गरीब का धर्म अपनाने की। हम इस धर्म-परिवर्तन के सख्त खिलाफ हैं। इस धर्मवादिता से जनसंघ के समर्थक भी हमारी पार्टी में आ सकते हैं···"

पत्नी हमारे विरुद्ध प्रचार करने लगी हैं। हमारा चुनाव का सपना डांवाडोल हो रहा है और जनता के क्रोध से बचने के लिए हम इस समय बम्बई भाग आए हैं। क्रोध में बराबर यही बात मन में फूटती है कि सत्यानाश हो इस जनता का, जो हमें नेता नहीं मानती।

भोर का आवाहन

विद्यानिवास मिश्र

भोजपुरी के एक मंगलगीत की पहली कड़ी है—'ए भोर रे भइले भिनुसार चिरइया एक बोलेले; मिरुग बन चुगेंलें' यह गीत विवाह के पांच दिन पूर्व से विवाह के दिन तक भोर के आवाहन के रूप में प्रथम मंत्र की भांति उच्चारित होता है। इसमें भोर का स्मरण पितरों का स्मरण, घर के अभाव का स्मरण और मंगल के अमोघ प्रभाव का स्मरण किया जाता है। यह स्मरण प्रतिबोधित होता है पहली चिरइया की बोली से, जिसे भिनुसार का पहला आभास होता है और यह चिरइया अपने कर्कश कंठ से कान के पर्दे चीरने वाला मुर्गा न समझी जाय, इसका देहाती नाम 'ठाकुर चिरइया' है, क्योंकि इसकी बोली में 'ठाकुरजी ठाकुरजी' की सदृशता मिलती है। इसका कंठ बहुत महीन और सुरीला होता है। और शुक्र तारा के उगने के थोड़ी देर बाद इसकी प्रभाती उठती है। इसलिए इसे सुनने का सौभाग्य भी बहुत ही कम लोगों को मिलता होगा, क्योंकि बहुत कम लोग शुक्रतारा का उदय देखने के लिए उत्कंठित रहते हैं। अधिकतर लोग लोहा लगने की बाट जोहते रहते हैं और मुर्गे की 'कुकुड़ूं कूं' के बिना प्रभात को प्रमाणित नहीं मानते हैं। ऐसे लोगों से उस सुरीली रागिनी का परिचय कैसे होगा? परिचय उनका होगा, जो जांते पर झीना आटा निकालने के साथ झीनी रागिनी निकाला करती हैं और अपने जंतसार की विराम-संधियों में जिन्हें ठाकुरजी की टेक मिल जाती है, उनका होगा, जिनकी पलकें कातिक की तैयारी में लग नहीं पाती और ताव से बोने का उत्साह जिनको ज्वर-सा उत्तापित किये रहता है, उन्हें ठाकुर जी के स्थान पर बोओ-जोतो का संदेश उस चिरइया से सुन पड़ता है। परिचय उनका होगा, जिन्हें गांव की लम्बी डगर चलनी होगी और जिनकी अधखुली आंखें सुकवा तारा की गति निरखती रहती है तथा जिनके पग पृथ्वी और अम्बर के उस पहले गीत के ताल

पर चल पड़ते हैं और अन्त में परिचय उनका होगा, जिनकी आंखें रात के जादू से एक पल भी झंपती नहीं और अपलक उस जादू का रहस्यभेदन किया करती हैं, जब तक कि वह जादू इस जादूभरी रागिनी से ही उतरता है, जिससे ऐसे लोगों की नींद आंखों से नहीं कानों में स्वर की बूंद पड़ने से खुलती है।

भोर तो सब जगह होती है और एक-दो पंक्षी भी हर एक मुंडेरी पर आकर मनुष्य को प्रकृति के साथ उसके पुराने संबंधों की गाथा, मनुष्य उसे सुने या न सुने, चाहे न चाहे, गाहे-वेगाहे रो-गाकर कभी-न-कभी सुना ही जाते हैं। लेकिन एलार्म-घड़ी या मिल के भोंपू या सूरज की गरम धूप से जिनकी नींद खुलती है, उनको एक चिड़िया के बोलने के साथ प्रभात-वेला का तादात्म्य कभी सपने में भी नहीं झलकेगा। उन आँखों की पलकें जिन सपनों से भारी होती है, वे सपने भी उसी जन-रव वाले, चकाचौंध वाले तथा स्नो की लपट वाले अपरुप जगत् के होते हैं। उन सपनों के सूने आकाश में भला कहां से आंगन की जूही या द्वार की चम्पा के घने पत्र-जाल में से प्रातः समीर की सिहरन को स्पन्दित करनेवाली तथा प्रथम मिलन. के पिछले पहर की विथकित पर उन्मद शिंजिनी की खनकार में अपना स्वर अत्यन्त कौशल से मिलाने वाली विहग-दूती कूकने आयेगी और कूककर अम्बर के आंसुओं से भीनी और उत्कलित दूर्वादलों से पुलकित धरती का सन्देश या आभार-स्वीकार या पुनः उस अम्बर की दैनिक अपरिहार्य ज्वाला के लिए स्निग्ध समर्पण-वचन या कुछ और देर बिलमने की अनुराधना पहुंचायेगी।

आज का युग संदेशों से भरकर मधुवन का कूप बन गया है। प्रत्येक कलम गहनेवाले की गंवार से गंवार वाणी गोकुल की गोपी की तरह क्षण-क्षण पर सन्देश भेजते-भेजते कुएं तक पाटती जाती है। इसलिए रोने के सन्देशों से पटे हुए युग में सही सन्देश की पहचान नहीं रह गई है। सही सन्देश वस्तुतः इन अनगिन रोनों का संक्षिप्त उत्तर है, सोलह हजार गोपियों या सोलह हजार ऋचाओं की उत्कंठा का उपशम है और वह सन्देश इनके आराध्य गोपीवल्लभ के जीवन-मन्त्र 'त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप' की

आवृत्ति है। वह सन्देश जागरण के तप पर बल देता है, स्वप्न के सुख का वह तिरस्कार करता है। वह ध्यान करता है कि जगत् में जागरण की वेला आयी, चिड़िया 'ठाकुरजी' गाकर तीन लोक के जागरूक ठाकुर की याद दिला गयी। मृग वन चुगने चलें, हलधर खेतों की ओर चलें, बहुएं जांते पर चलें। उठो, जागो और सोये हुए पितरों को जगाओ। दूध दुहाने जांय, घर में न धेनु है न गाभिन गायें ही हैं। वहंगियों दूध आये और छाछ की नालियां बह निकलें, क्योंकि महान् मंगल की वेला आयी है।

ए भोर रे भइले भिनुसार चिरइया एक बोलेले, मिरूग बन चूंगेले
एक भोरे खेतवन हर लेके चल हरवहवा त बहुवर जांते
ए जाइ रे जगादहु कौन बाबा जासु दुहावन
ए नाहिं मोरे धेनु न गाभिन सब मोरे ऊसर
ए दुधवा त आवे बंहिगवा त मठवन नारि बहै

यह सन्देश उस अकेली चिड़िया की सुरीली कंठध्वनि से जो सुन पाया, वह बड़भागी है और जो सुनकर उसे प्रत्येल मंगल-वेला में अपने स्वर में उसे भरकर सुना पाया, वह लोक-कंठ दूना बड़भागी है। अभागे वे हैं, जो 'चिरइया' की वह पहली बोली एक क्षण भी न सुन पाये हैं, वह बोली, जो अवनि और अम्बर के समवेश जागरण की संयुक्त घोषणा है, जो अवनि से उटती है और अम्बर में भर जाती है, जो दुहराये जाने की कोई प्रत्याशा नहीं रखती है और जो अपने अकेले गायन से समस्त जगत् के जागरण गीतों को झूठा कर देती है। उससे भी अधिक अभागे वे हैं, जो सुनकर भी इसे गह नहीं पाये, जिन्हें अपने शाश्वत रुदन से भरे हृदय में उस सन्देश के लिए किसी कोने-अंतरे में जगह नहीं मिली और चिड़िया बोली, मृगवन में तृण चुगने चले, जांते की चक्की घूम चली, पर पितरों की स्मृति जगाने की बात तो दूर रही, स्वयं अपने को जगाने का जिन्हें उत्साह नहीं आया जिन्हें तुरन्त अभाव का रोना भर आता है, पर अपने बाहुबल से दूध-दही बहाने वाले शतजीवी आर्य पूर्वजों के आशीर्वाद से जिन्हें प्रेरणा ग्रहण करना नही आता है और जिन्हें मंगल-वेला के लिए मानसिक उल्लास की तैयारी करनी नहीं आती है।

मैं इन अभागों की बात सोचते-सोचते जब अपनी बात सोचता हूँ, तो पाता हूँ कि देहात की ·सवारियों का मर्मर मुझसे दो वर्षों का व्यवधान कर चुका है। 'ठाकुर चिरइया' की आवाज भीतर-ही-भीतर धीमी गूंज बन चुकी है। भोर के खेतों से निकलने वाले वैलों की घंटियों की टुनटुनाहट स्वप्न की स्मृति बन चुकी है, पर भोर का वह मंगल-गीत वेले के गजरे की तरह अब भी मन में महक रहा है और उस गजरे में गांव के जागरण की समस्त कलायें पिरोयी हुई हैं। यह गजरा महक रहा है, इसलिए कि मैं लोक-साहित्य को फैशन मानने वाले लोगों से अपने को एकाकार न कर सका और सबसे अधिक जन के बीच रहने के कारण जन को तो कुछ-कुछ समझ सका; पर जन को अपने उलटे जप से विलुप्त करने वाले जनवाद को नहीं समझ पाया। मेरी इस नासमझी और गंवारपना ने ही वह महक जतन से बचा रखी है।

जब मैं भूलना चाहता हूँ कि कारी नागिन कही जाने वाली रात से भी अधिक काले क्रूर डसीले नागों ने मेरे हाथों से दूध पीकर मुझे ही बार-बार डंसा है, जब मैं भूल जाना चाहता हूँ कि निश्छल व्यवहार पर सहज-अविश्वासी लोगों की प्रतीति नहीं होती और इसलिए विश्वास सदैव मनुष्य की प्रवंचना बन जाता है, जब मैं भूल जाना चाहता हूँ कि प्रतिदान न मांगने से लोग उलटे कर्जदार मानने लगते हैं और अन्त में जब मैं भूल जाना चाहता हूँ कि प्रेय कभी श्रेय हो नहीं सकता, तो मुझे केवल उस भिनुसार की अगवानी करने वाली अकेली चिरइया को प्रभाती की सुधि में मनचाही विस्मृति की छांह मिल जाती है और इस छांह ही में खोया हुआ विश्वास वापिस पा जाता हूँ।

मैं अपने को बाहर फैलाकर जब देखता हूँ. तब मुझे अपने देश के असंख्य अमुखर कंठों से अव्यक्तरूप से एक ही ध्वनि सुनाई पड़ती है कि 'चिरइया एक बोलेले।' गरुड़ के डैनों का अभ्रभेदी निनाद और कबूतर की टोलियों की गुटुरगूं के कोलाहल के बीच घने अंधकार की प्रगाढ़ छाया में निश्शंक-भाव से अदम्य विश्वास के साथ वह अकेली 'चिरइया' बोल उठी है। उसकी पतली आवाज में सुप्त मानवता ने अपने अस्तित्व की आदि

प्रतिज्ञा दुहरायी है कि वह बंधन में पड़ने के लिए नहीं, बल्कि मोक्ष के लिए है, उस आवाज में अम्बर का ऊर्ध्वग अभिमान् बोला है, उस आवाज में धरती की अपार तितिक्षा लहरायी है, जो अपनी मधुरता में समस्त विराव-संराव की तीव्रता घोल कर उन्हें मधुर बनाने की क्षमता रखती है और इस आवाज में ऊषा का प्रथम अभिनन्दन करने वाला महान् इतिहास उचरा है कि भविष्य-निर्माण के लिए नींव में पितरों की अशीष छिपी हुई है, ईंट और गारा संभालो, भवन तुम्हारे हाथों ढला तैयार है। हाँ, यह जरूर है कि इस आवाज को गुंजा वही सकता है, जो पहले इसे भर सके। और जिन्दगी की कसम खाने-मात्र से ही जिन्दगी का गीत बनने का जो साहित्य दावा करता है, वह इस आवाज को अपने में नहीं भर सकता। जो जिन्दगी की तपस्या की श्रम-वारि से भरा नहीं, वह साहित्य छूंछा है और छूंछे घट में मंगल की अवतारणा कभी भी नहीं की जा सकती। यह आवाज वह श्रम-वारि मांगती है, सबसे अधिक साहित्यकार से। श्रम-वारि के अनन्तर यह मांगती, पंचपल्लव और धान्य से परिपूर्ण पात्र पर कमल की अल्पना। पर श्रमवारि उसकी पहली मांग है और आज का साहित्य विजली के पंखे के नीचे का साहित्य है। उसमें श्रम की बूंद उठने नहीं पाती, उठती भी है, तो पल-भर में सुखा दी जाती है, मानों साहित्य में द्रवणशीलता ही नहीं रही। यह द्रवणशीलता ताप से आती है, रस की उत्पत्ति तेज से होती है और पानी ताप का ही रूपान्तर होता है। इस सत्य को ग्रहण किये बिना उस ताप की रागिनी को नहीं समझा जा सकता जो भोर की 'सुखनिंदिया' का परित्याग कर देती है, केवल इसलिए कि उसी वेला में ब्राह्म मुहूर्त को ध्यान की घड़ी बनाने वाले पूर्वजों के पुण्य-प्रताप का चिन्तन एकाग्र भाव से किया जा सकता है। उसी वेला में 'गोकामा वयं ब्रह्मविदो नमस्कुर्मः' इस प्रतिज्ञा के साथ ब्रह्मचर्या करने वाले आदित्यवादी याज्ञवल्क्य की अर्चना की जा सकती है, छकड़ा लादने वाले महाज्ञानी रैक्व की पूजा की जा सकती है, 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वारान्निबोधत क्षुरस्य धारा निश्चिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति' का उद्बोधत देने वाले यमराज की वन्दना की जा सकती है और उनसे जीवन की तपस्या के

लिए संबल ग्रहण किया जा सकता है। वह तप की भावना ही एक दूसरे भोर-गीत में बबूल की छाया में मंडप छाने के उल्लास का अनुभव करती है। साथ ही तप की वह भावना किसी समूह के अनुवर्तन या किसी सम्प्रदाय के प्रवर्तन या किसी लोक के अनुधावन की लेशमात्र भी चिन्ता नहीं करती, यद्यपि वह स्वयं लोकहिताय और लोकसुखाय, इस लक्ष्य से प्रेरित है। वह अकेलेपन में विवशता या हताशा का अनुभव नहीं करती। वह उसमें भी उत्साह पाती है, उसम विश्व को समेटने-वाला आत्मविश्वास है, क्योंकि उसकी आत्मा विश्वात्मा से एकाकार है।

व्यष्टिरूप से आज साहित्य में तप की भी अर्चना है, आनन्द की भी परिकल्पना है, बुद्धिवाद का भी विलास है और भावना की भी रंगीनी है, पर इन सब के अंकन में एक विश्रृंखलता ऐसी है. जो पूर्ण मंगल की अवतारणा नहीं होने देती। मंगल के लिए सामूहिक आयोजन भी है; पर सिद्धि नहीं है। इसका कारण यदि ढूंढ़ना हो, तो उस 'चिरइया' की आवाज सुननी चाहिए और इसके बाद उस आवाज से मंगल की प्रेरणा लेने वाली लोक रागिनी सुननी चाहिए और तब यह लगेगा कि उस एक 'चिरइया' में जैसे तत्सत् की पूर्ण उपलब्धि हो गयी हो और विश्व की गति, विश्व का आनन्द, विश्व का बोध और विश्व के कंठ का मंगल उसके कंठ से एक साथ खुल पड़े हों, तब यह मर्म खुलेगा कि खेतिहरों, गोपालों और वन-वासियों की चिंता जिन उपनिषदों में सूत्रित हुई है. वे ही उपनिषद् सहज आनन्द-बोध लोक-मानस से प्रवाहित होने वाली अपौरुषेय रागिनी में समर्पण कर गये हैं। तभी इसका भी अर्थ उधरेगा कि भारत की वह एक 'चिरइया' होते हुए भी अनेक को चुनौती है, अपने स्वर की उच्चता के बल पर नहीं, बल्कि अपनी शाश्वत मधुरता और पवित्रता के कारण और अपनी बोली में नवमंगल के उदय का विश्वास भरे रहने के कारण।

गिल्लू

महादेवी वर्मा

सोनजूही में आज एक पीली कली लगी है। इसे देख कर अनायास ही उस छोटे जीव का स्मरण हो आया, जो इस लता की सघन हरीतिमा में छिपकर बैठता था और फिर मेरे निकट पहुंचते ही कंधे पर कूदकर मुझे चौंका देता था। तब मुझे कली की खोज रहती थी, पर आज उस लघु प्राण की खोज है।

परन्तु वह तो अब तक इस सोनजुही की जड़ में मिट्टी होकर मिल गया होगा। कौन जाने स्वर्णिम कली के बहाने वही मुझे चौंकाने ऊपर आ गया हो।

अचानक एक दिन सवेरे कमरे से बरामदे में आकर मैंने देखा, दो कौवे एक गमले के चारों ओर चोंचों से छुआ-छुऔवल जैसा खेल खेल रहे हैं। यह काकभुशुण्डि भी विचित्र पक्षी है—एक साथ समादरित, अनादरित, अति सम्मानित, अति अवमानित।

हमारे बेचारे पुरखे न गरुड़ के रूप में आ सकते हैं, न मयूर के, न हंस के। उन्हें पितरपक्ष में हमसे कुछ पाने के लिए काक बनकर ही अवतीर्ण होना पड़ता है। इतना ही नहीं, हमारे दूरस्थ प्रियजनों को भी अपने आने का मधु सन्देश इनके कर्कश स्वर में ही देना पड़ता है। दूसरी ओर हम कौवा और काँव-काँव करने को अवमानना के अर्थ में ही प्रयुक्त करते हैं।

मेरे काकपुराण के विवेचन में अचानक बाधा आ पड़ी, क्योंकि गमले और दीवार की संधि में छिपे एक छोटे-से जीव पर मेरी दृष्टि रुक गयी। निकट जाकर देखा, गिलहरी का छोटा-सा बच्चा है, जो सम्भवतः घोंसले से गिर पड़ा है और अब कौवे जिसमें सुलभ आहार खोज रहे हैं।

काकद्वय की चोंचों के घाव उस लघु प्राण के लिए बहुत थे, अतः वह निश्चेष्ट-सा गमले से चिपटा पड़ा था।

सबने कहा, कौवे की चोंच का घाव लगने के बाद यह बच नहीं सकता, अतः इसे ऐसे ही रहने दिया जावे।

परन्तु मन नहीं माना—उसे हौले से उठाकर अपने कमरे में लायी, फिर रुई से रक्त पोंछकर घावों पर पेन्सिलीन का मरहम लगाया।

रुई की पतली बत्ती दूध से भिगोकर जैसे-तैसे उसके नन्हे से मुँह में लगायी, पर मुँह खुल न सका और दूध की बूँदें दोनों ओर ढुलक गयीं।

कई घण्टे के उपचार के उपरान्त उसके मुँह में एक बूँद पानी टपकाया जा सका। तीसरे दिन वह इतना अच्छा और आश्वस्त हो गया कि मेरी उँगली अपने दो नन्हें पंजों से पकड़कर, नीले काँच के मोतियों जैसी आँखों से इधर-उधर देखने लगा।

तीन-चार मास में उसके स्निग्ध रोयें, झब्बेदार पूँछ और चंचल चमकीली आँखें सबको विस्मित करने लगीं।

हमने उसकी जातिवाचक संज्ञा को व्यक्तिवाचक का रूप दे दिया और इस प्रकार हम उसे गिल्लू कहकर बुलाने लगे। मैंने फूल रखने की एक हल्की डलिया में रुई बिछाकर उसे तार से खिड़की पर लटका दिया।

वही दो वर्ष गिल्लू का घर रहा। वह स्वयं हिलाकर अपने घर में झूलता और अपनी काँच के मनकों-सी आँखों से कमरे के भीतर और खिड़की से बाहर न जाने क्या देखता समझता रहता था। परन्तु उसकी समझदारी और कार्य-कलाप पर सबको आश्चर्य होता था।

जब मैं लिखने बैठती तब अपनी ओर मेरा ध्यान आकर्षित करने की उसे इतनी तीव्र इच्छा होती थी कि उसने एक अच्छा उपाय खोज निकाला।

वह मेरे पैर तक आकर सर्र से परदे पर चढ़ जाता और फिर उसी तेजी से उतरता। उसका यह दौड़ने का क्रम तब तक चलता, जब तक मैं उसे पकड़ने के लिए न उठती।

कभी मैं गिल्लू को पकड़कर एक लम्बे लिफाफे में इस प्रकार रख देती कि उसके अगले दो पंजों और सिर के अतिरिक्त सारा लघु गात लिफाफे के भीतर बन्द रहता। इस अद्भुत स्थिति में कभी-कभी घण्टों मेज पर दीवार के सहारे खड़ा रहकर वह अपनी चमकीली आँखों से मेरा कार्यकलाप देखा करता।

भूख लगने पर चिक-चिक करके मानों वह मुझे सूचना देता और काजू या बिस्कुट मिल जाने पर इसी स्थिति में लिफाफे से बाहरवाले पंजों से पकड़कर उसे कुतरता रहता।

फिर गिल्लू के जीवन का प्रथम वसन्त आया। नीम-चमेली की गन्ध मेरे कमरे में हौले-हौले आने लगी। बाहरी गिलहरियाँ खिड़की की जाली के पास आकर चिक-चिक करके न जाने क्या कहने लगीं।

गिल्लू को जाली के पास बैठकर अपनेपन से बाहर झाँकते देखकर मुझे लगा कि इसे मुक्त करना आवश्यक है।

मैंने कीलें निकाल कर जाली का एक कोना खोल दिया और इस मार्ग से गिल्लू ने बाहर जाने पर सचमुच ही मुक्ति की साँस ली। इतने छोटे जीव को घर में पले कुत्ते, बिल्लियों से बचाना भी एक समस्या ही थी।

आवश्यक कागज-पत्रों के कारण मेरे बाहर जाने पर कमरा बन्द ही रहता है। मेरे कालेज से लौटने पर जैसे ही कमरा खोला गया और मैंने भीतर पैर रखा, वैसे ही गिल्लू अपने जाली के द्वार से भीतर आकर मेरे पैर से सिर और सिर से पैर तक दौड़ लगाने लगा। तब से यह नित्य का क्रम हो गया।

मेरे कमरे से बाहर जाने पर गिल्लू भी खिड़की की खुली जाली की राह बाहर चला जाता और दिन-भर गिलहरियों के झुण्ड का नेता बना, हर डाल पर उछलता-कूदता रहता और ठीक चार बजे वह खिड़की से भीतर आकर अपने झूले में झूलने लगता।

मुझे चौंकाने की इच्छा उसमें न जाने कब और कैसे उत्पन्न हो गयी थी। कभी फूलदान के फूलों में छिप जाता, कभी परदे की चुन्नट में और कभी सोनजुही की पत्तियों में।

मेरे पास बहुत से पशु-पक्षी हैं और उनका मुझसे लगाव भी कम नहीं है, परन्तु उनमें से किसी को मेरे साथ मेरी थाली में खाने की हिम्मत हुई है, ऐसा मुझे स्मरण नहीं आता।

गिल्लू इनमें अपवाद था। मैं जैसे ही खाने के कमरे में पहुँची, वह खिड़की से निकलकर आँगन की दीवार, बरामदा पार करके मेज पर पहुँच जाता और मेरी थाली में बैठ जाना चाहता। बड़ी कठिनाई से मैंने उसे थाली के पास बैठना सिखाया, जहाँ बैठकर वह मेरी थाली में से एक-एक चावल उठाकर बड़ी सफाई से खाता रहता। काजू उसका प्रिय खाद्य था और कई दिन काजू न मिलने पर वह अन्य खाने की चीजें या तो लेना बन्द कर देता था या झूले से नीचे फेंक देता था।

उसी बीच मुझे मोटर दुर्घटना में आहत होकर कुछ दिन अस्पताल में रहना पड़ा। उन दिनों जब मेरे कमरे का दरवाजा खोला जाता, गिल्लू अपने झूले से उतरकर दौड़ता और फिर किसी दूसरे को देखकर उसी तेजी से अपने घोसले में जा बैठता। सब उसे काजू दे जाते, परन्तु अस्पताल से लौटकर जब मैंने उसके झूले की सफाई की तो उसमें काजू भरे मिले, जिनसे ज्ञात होता था कि वह उन दिनों अपना प्रिय खाद्य कितना कम खाता रहा।

मेरी अस्वस्थता में वह तकिये पर सिरहाने बैठकर अपने नन्हें-नन्हें पंजों से मेरे सिर और बालों को इतने हौले हौले सहलाता रहता कि उसका हटना एक परिचारिका के हटने के समान लगता।

गर्मियों में जब मैं दोपहर में काम करती तो गिल्लू न बाहर जाता, न अपने झूले में बैठता। उसने मेरे निकट रहने के साथ गर्मी से बचने का एक सर्वथा नया उपाय खोज निकाला था। वह मेरे पास रखी सुराही पर लेट जाता और इस प्रकार समीप भी रहता और ठण्डक में भी रहता।

गिलहरियों के जीवन की अवधि दो वर्ष से अधिक नहीं होती, अतः गिल्लू की जीवन-यात्रा का अन्त आ ही गया। दिन-भर उसने न कुछ खाया, न बाहर गया। रात में अन्त की यातना में भी वह अपने झूले से उतरकर मेरे बिस्तर पर आया और ठण्डे पंजों से मेरी वही उँगली पकड़कर हाथ से चिपक गया, जिसे उसने अपने बचपन की मरणासन्न स्थिति में पकड़ा था।

पंजे इतने ठण्डे हो रहे थे कि मैंने जागकर हीटर जलाया और उसे उष्णता देने का प्रयत्न किया। परन्तु प्रभात की प्रथम किरण के स्पर्श के साथ ही वह किसी और जीवन में जागने के लिए सो गया।

उसका झूला उतारकर रख दिया गया है और खिड़की की जाली बन्दकर दी गयी है, परन्तु गिलहरियों की नयी पीढ़ी जाली के उस पास चिक-चिक करती ही रहती है और सोनजुही पर वसन्त आता ही रहता है।

सोनजुही की लता के नीचे गिल्लू को समाधि दी गयी है—इसलिए भी कि उसे वह लता सबसे अधिक प्रिय थी—इसलिए भी कि उस लघुगात का किसी वासन्ती दिन, जुही के पीताभ छोटे फूल में खिल जाने का विश्वास मुझे संतोष देता है।

यूरोप की छतपर

अज्ञेय

दुनिया की नहीं तो यूरोप की छत : अपने पर्वतीय प्रदेश के कारण स्विटजरलैण्ड को प्रायः यह नाम दिया जाता था—किन्तु हिमालय को घर के किसी बड़े की तरह सहज भाव से जानने वाले हम भारतवासियों को यह नाम पहले भी प्रभावित न करता, और अब तो यूरोप के लोगों को भी नहीं करता क्योंकि इधर उनका भी हिमालय से परिचय काफी बढ़ गया है। अनेक यूरोपीय देशों के पर्वतारोही विभिन्न शिखरों की चढ़ाई के सफल और असफल आयोजन कर चुके हैं। इसीलिए इंग्लैण्ड के स्वोडन शिखर की चढ़ाई कीं चर्चा करते समय एक अंग्रेज अध्यापक ने अपनी बात हठात् अधूरी छोड़कर मुझसे कहा था—'अरे, आप से क्या इसकी बात करें ! हिमालय के सामने तो हमारे पहाड़ एक फुंसी के बराबर होंगे।'

पहाड़ की ऊंचाई की तुलना में भी 'स्विट्जरलैण्ड के पहाड़ उतने नगण्य तो नहीं हैं। और पहाड़ी समाजों में जो एक सहज आत्म-सन्तोष और स्वतः संपूर्णता होती है, वह जितनी हमारे देश के पहाड़ी समाजों में पायी जा सकती है उतना ही स्विट्जरलैण्ड में भी मिलेगी। फिर भी भारत में प्रायः जो तुलना की जाती सुनी थी, उसे जब-जब मन दुहराया तब-तब कुछ द्विविधा हुई—यह कहने को मन नहीं हुआ कि स्विट्जरलैण्ड यूरोप का कश्मीर है या कि कश्मीर भारत का स्विट्जरलैंड है। एक बार इतना कहा था कि कश्मीर के कुछ प्रदेशों को साबुन से खूब धो लें तो कुछ-कुछ स्विटजरलैण्ड से लगने लगेंगे। यह बात किसी हद तक ठीक है, पर इसका भी पूरा अभिप्राय उसी की समझ में आ सकता है जिसने दोनों देशों को देखा हो। क्योंकि बात केवल इतनी नहीं कि 'स्विटजरलैण्ड बड़ा साफ-सुथरा देश है, या कि वहां के जीवन का स्तर यूरोप की भी दृष्टि से बहुत ऊंचा है। बात इससे कुछ अधिक है। स्विस दृश्य को देखकर उसका अतिशय सौन्दर्य

मन में सजीव-सा जमता नहीं है, कुछ ऐसा जान पड़ता है कि एक रंगीन चित्र देख रहे हैं। मैं नहीं जानता कि ऐसा मेरा ही अनुभव रहा है या कि और भारतीयों का भी ऐसा होता है : यों कुछ ऐसे अति उत्साही भारतीय भी मुझे मिले जो स्विटजरलैण्ड के सौन्दर्य के सामने दुनिया-भरके पहाड़ों को फूंक से उड़ा देते हैं, भारत के हिमालय की तो बात ही क्या ? किन्तु ऐसे तो एक भारतीय राजदूत की बात सुनी थी, जिन्होंने समूचे भारत को ही यूरोप के एक पहाड़ी बंगले के सामने तुच्छ ठहरा दिया था। जिन यूरोपीय महिला ने यह बात मुझे सुनायी थी—उन्हीं से यह कहा गया था—उन्होंने यह टिप्पणी भी की थी : 'हमारे देश में भी ऐसे लोग होते हैं जो अपने देश की बुराई करते रहते हैं—पर हम उन्हें राजदूत बनाकर नहीं भेजते।' पर ऐसे शब्द-धनियों को छोड़ें। मुझे तो जगह-जगह, बार-बार, ऐसा लगा मानों सामने के दृश्य का सौन्दर्य तो स्पष्ट हो, मगर उसकी यथार्थता ही मानो सन्दिग्ध हो। ऐसा क्यों ? सब कुछ मंजा-धुला उजला है; हरी घास मानो सचमुच की घास से कुछ ज्यादा हरी है, आकाश सचमुच के आकाश से कुछ अधिक नीला, शुभ्र मेघखण्ड कुछ अधिक चमकोले, फूल कुछ अधिक रंगीन और इसलिए जैसे उन पर विश्वास नहीं होता, उनसे अपनापा नहीं जुटता। जैसे जिस घर के बैठके को बहुत अधिक झाड़-पोंछ कर और तरतीब से रखा जाता है, उसमें जाकर प्रभावित होने पर भी ऐसा नहीं लगता कि यहां कोई रहता है जिसके संस्पर्श से कमरे का वातावरण जीवित है—कुछ ऐसा ही भाव स्विटजरलैण्ड में बराबर मेरे मन में रहा। हो सकता है कि मैं ही ज्यादा संवेदन-शील रहा हूँ; पर स्विटजरलैण्ड की अल्प श्रेणी से बिलकुल संलग्न इटालियन आल्पों में या आस्ट्रिया के पर्वतों में ऐसा नहीं लगा—इटली का परिदृश्य सर्वदा प्रवहमान जीवन से स्पन्दन शील जान पड़ा।……

वैसे एक अर्थ में जरूर स्विस पर्वतश्रेणी यूरोप की छत है : वहां से बहा हुआ पानी नदियों के रूप में यूरोप के विभिन्न भागों में से गुजरता है। राइन, रोन, पो और इन्न नदियां सब इसी श्रेणी से प्रसूत होती हैं। इन्न तो शीघ्र ही डैन्यूब में जा मिलती है : बाकी तीनों आस्ट्रिया, जर्मनी, फ्रांस और इटली के प्रदेशों को सींचती हुई विभिन्न दिशाओं में जाती हैं, उनके

तट-प्रदेश का अपना अलग-अलग सौन्दर्य है, प्रत्येक के तट की मुख्य खेती, अंगूर के अलग-अलग नाम और प्रशंसक। स्विटजरलैण्ड के प्रदेश में नदियां हैं और नदी तट पर बसी हुई राजधानी बेर्न का सौन्दर्य दर्शनीय है। मुझे वही वहां का सबसे सुन्दर शहर लगा और उसके बाद बाजल या बाल, जिसके नदी-तट की शोभा निराली है। त्सूरिख (ज़ूरिश) अपने अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे और उद्योगों के कारण, और जेनीवा अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के कारण अधिक प्रसिद्ध है। जेनीवा की विशाल झील लेमाना उसके सौन्दर्य की वृद्धि करती है, पर इस झील का भी वास्तव में दूसरा अर्थात् लोजान की ओर का तट अधिक सुन्दर है।

नदियों के रहते भी स्विटजरलैण्ड नदियों का नहीं, झीलों का ही देश है—झीलों का और पर्वत-शिखरों का। जेनीवा और लोजान दोनों विशाल लेमान झीलपर बसे हुए अलग-अलग नगर हैं जिनके बीच के छोटे-छोटे गँवइ कसबे अलग हैं : लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार इन छोटे घाट-पड़ावों में से कोई एक को, कोई दूसरे को पसन्द करते हैं। किन्तु पूरी झील की दृष्टि से लूसर्न की झील छोटी होनेपर भी सबसे सुन्दर है। यों लेमान झीलपर लोजान के आस-पास से दीखनेवाला सूर्यास्त बड़ा सुन्दर हो सकता है, और शियों की पुरानी गढ़ी भी—जिसे बायरन की कविता 'द प्रिजनर आफ शियों' ने प्रसिद्ध कर दिया—बड़ी सुन्दर है। पर लूसर्न के कोने-कोने पर इतना सौन्दर्य बिखरा पड़ा है, और झील की ओर से आँख हटाये तो गिरि-शिखर की आवाज इतने मधुर आकर्षक स्वर से बुला लेती है कि लूसर्न देखे बिना स्विटजरलैण्ड देखना पूरा नहीं माना जा सकता। मेरे जैसे व्यक्ति को कभी-कभी यह जरूर अनुभव होता कि सर्वत्र टूरिस्टों की इतनी भरमार न होती तो कुछ बुरा न होता—पर टूरिस्ट तो आधुनिक जीवन का जुकाम है—जो कभी भी कहीं भी हो सकता है और जिसका कोई इलाज नहीं है। और स्विटजरलैण्ड के उद्योगों में तो टूरिस्ट उद्योग का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहां की घड़ियां, कैमरे और अनेक प्रकार की छोटी मशीनें और उपकरण तो प्रसिद्ध हैं ही, वहां के डिब्बे के दूध, पनीर, चाकलेट आदि का निर्यात भी दुनिया भर को होता है और उत्तमकोटि की दवाइयां भी वहां से आती हैं, पर इस छोटे-से देश की सम्पन्नता जितनी इन

उद्योगों पर निर्भर है उतनी ही टूरिस्टों पर। वहाँ इसके लिए जो नाम प्रचलित है वह है 'परदेशी उद्योग'। गर्मियों में धूप और खुली हवा, पहाड़ी सैर और झील-झरनों के स्नान का आकर्षण और जाड़ों में बर्फ के खेलों का आकर्षण— इनके कारण प्रतिवर्ष दो लम्बे 'टूरिस्ट सीजन' हो जाते हैं: इसके अलावा विश्राम या प्राकृतिक चिकित्सा, दूध-मट्ठे के कल्प या जड़ी-बूटियों की खोज में भी लोग आते ही रहते हैं। और यूरोपीय राजनीति में अपनी विशेष तटस्थता-नीति के कारण स्विटजरलैण्ड अनेक प्रकार के राजनीतिक सम्पर्क और आदान-प्रदान का भी केन्द्र है। साल में कम ही दिन ऐसे होते होंगे जब वहाँ कोई-न-कोई कानफरेन्स न हो रही हो। जेनीवा का तो नाम ही मानो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का पर्याय हो गया है, पर लोजान, लोकार्नो, बाजेल सभी इतिहास में सन्धियों और सम्मेलनों के कारण प्रसिद्ध हो गये हैं।

स्विटजरलैण्ड बहुभाषी देश है। जर्मन, फ्रांसीसी और इटालीय, उसके तीन स्पष्ट क्षेत्र हैं: उत्तर और पश्चिमोत्तर जर्मन-भाषी है, पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम फ्रेंच-भाषी: दक्षिण-पूर्व इटालियन-भाषी। भाषा अपने आप में अलग कुछ चीज नहीं होती। उसके साथ संस्कृति, विचारधाराएँ और प्रवृत्तियां और जातिगत सहानुभूतियां भी बनी होती हैं और यह त्रिमुखी सम्बन्ध यहां भी देखा जा सकता है। उदाहरणतया रोम के पोप की विशेष सेना का प्रत्येक सिपाही स्विटजरलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश से आता है: ये 'स्विस प्रहरी' अपने लम्बे कद और रंगीन वर्दियों के लिए भी उतने ही प्रसिद्ध हैं जितने अपने शिष्ट व्यवहार के लिए। स्विटजरलैण्ड में तीनों भाषाओं को समान राजकीय प्रतिष्ठा दी गयी है, पर वास्तव में किसी भी प्रदेश में मुख्यरूप से एक भाषा का चलन है और गौण रूप से एक दूसरी का; समान रूप से त्रिभाषी प्रदेश या समुदाय कहीं नहीं मिलेगा। हमारे जैसे बहुभाषी देश के लिए इसमें कई संकेत हैं। भाषाओं के परस्पर विद्वेष से मुक्त रहना देश की उन्नति के और देश में एक विदेशीय भावना के विकास के लिए आवश्यक है और स्विटजरलैण्ड इस भाषा-मैत्री का उत्तम उदाहरण है। लेकिन दूसरी ओर मेरी समझ में यह भी वह सिखाता है कि बिना एक भाषा में पूरी तरह डूबे रचनात्मक साहित्यिक कार्य नहीं हो सकता। क्योंकि भाषा संस्कृति का जीवन-रस है; जबतक जड़ों में सींचा जाकर

और रेशे-रेशे में बहकर वह रस पौधे को पुष्टि न दे, तबतक पौधेपर रंग-बिरंगे कागजी फूल खोंस देने से कुछ नहीं हो सकता। स्विटजरलैण्ड में बड़े साहित्यकार अधिक नहीं हुए हैं : जो हुए हैं, वे उसकी त्रिभाषिकता के उदाहरण नहीं हैं बल्कि स्पष्टतया एक भाषा के और भाषिक संस्कृति के वातावरण में पले हैं—जर्मन के या फ्रेन्च के। या फिर ऐसा हुआ है कि बाहर से आकर जर्मन या फ्रेन्च-भाषी साहित्यकार वहाँ बस गये हैं। बिना एक भाषा की संस्कृति में पूरी तरह डूबे हुए, बिना उस भाषा को आत्मसात् किये हुए, कोई बड़ा साहित्य नहीं रचा जा सकता। यह जान लेना हमारे लिए बड़ा जरूरी है—जो कि कोई एक परीक्षा पास कर लेने पर अपने को भाषा के अधिकारी समझने लगते हैं, या कभी ऐसा भी करते हैं कि किसी भी भारतीय भाषा पर अधिकार न होने के कारण अपने को बड़े अंग्रेजी दाँ ही मान बैठते हैं। दूसरी भाषाएँ जानना बुरा नहीं है और हम लोग दूसरों की अपेक्षा जल्दी ही दूसरी भाषा सीख लेते हैं : पर भाषा पर वह अधिकार जो सृष्टि का साधन बन सके—वह और चीज होती है—वैसा अधिकार एक ही भाषा में मिल सकता है—और अधिकतर अपनी ही भाषा में मिल सकता है। 'जिन डूबा, तिन पाइयां गहरे पानी पैठ'—भाषा के सागर के लिए भी उतना ही सच है जितना ज्ञान के : ज्ञान के द्वारा हम सत्य की वास्तविकता को पहचानते हैं तो भाषा के द्वारा उसकी सुन्दरता को।……

ऊपर पोप के स्विस अंगरक्षकों की चर्चा की गयी है। यह सेना स्वेच्छासेवी है, यह कहने की तो जरूरत नहीं। स्विटजरलैण्ड की अपनी छोटी-सी सेना का संगठन भी उल्लेखनीय है। देश के सभी वयस्कों को थोड़े दिन की अनिवार्य सैनिक सेवा देनी पड़ती है—पहली बार पैंतालिस दिन, उसके बाद हर आंतरे वर्ष सोलह दिन और फिर हर चौथे वर्ष नौ दिन के लिए। किन्तु वर्दी और हथियार बराबर लोगों के पास ही रहते हैं, और समय-समयपर उनका निरीक्षण हो जाता है। और सेना में सम्पूर्ण लोकतन्त्री व्यवहार होता है—छोटे-बड़े का भेद नहीं माना जाता है और बहुधा साधारण जीवन के स्वामी और सेवक सेना में एक साथ और बराबर होकर रहते हैं। ऐसा ही व्यवहार स्कूलों में होता है; शिक्षा अनिवार्य है और निरक्षर कोई नहीं है। पहाड़ों में कहीं-कहीं

तो पुराने ढंग की गणतंत्र प्रथाएँ अभी तक चली आती हैं। जैसे कहीं-कहीं पू
समाज अथवा गण की सभा होती है जिसमें हर वयस्क को अनिवार्य रूप से
आना पड़ता है और सभा के काम में भाग लेना पड़ता है।

स्विस लोग अपनी लोकतन्त्र प्रवृत्ति का, अपने स्वाधीनता प्रेम और अपनी
शान्ति-प्रियता का बड़ा गर्व करते हैं, और उचित ही करते हैं। उन्होंने संसार
को कोई महान् कवि या चित्रकार नहीं दिया, पर एक सभ्य और आधुनिक
जीवन-परम्परा तो दी है जिसकी बुनियाद है सत्य, दया और स्वतन्त्रता—
और कौन कहेगा कि मानव-संस्कृति के लिए इस देन का कम महत्त्व है ?

टेलीविजन

भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव

२५ जनवरी १९२६ को इंगलैण्ड में एक इंजीनियर जॉन बेयर्ड ने रायल इन्स्टीटयूट के सदस्यों के सामने टेलीविजन का सर्वप्रथम प्रयोग किया था। इस प्रयोग में उसने कठपुतली के चेहरे का चित्र रेडियो की तरंगों की सहायता से बगलवाले कमरे में बैठे हुए वैज्ञानिकों के सामने निर्माण किया था। विज्ञान के लिए यह एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण घटना थी। मानव-इतिहास में आज के दिन पहली बार दूर दर्शन सम्भव हो सका था। प्राचीनकाल से लेकर आज तक लोगों ने दूरदर्शन की कल्पनाएँ की हैं; किन्तु इस कल्पना को कार्य रूप में परिणित करने का श्रेय आधुनिक युग को ही मिल सका। सैकड़ों, हजारों वर्ष के स्वप्न को जॉन बेयर्ड ने सत्य कर दिखाया।

टेलीविजन द्वारा घर बैठे हम दूर की घटनाओं का सामने के पर्दे पर अवलोकन करते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस तरह रेडियो सेट द्वारा हजारों मील दूर का गाना सुनने में हम समर्थ होते हैं। टेलीविजन सेट भी देखने में रेडियो के सेट जैसे जंचते हैं. किन्तु जब टेलीविजन सेट के ऊपर का ढक्कन उठाते हैं तो वहां एक दर्पण लगा दिखायी देता है। दूरस्थ घटनाएँ इसी दर्पण में अंकित होती रहती हैं। इस ढंग पर बने सेट में तो चित्र अभिवर्धित होकर बड़े आकार के परदे पर भी प्रकट होते हैं।

यह तो सभी जानते हैं कि रेडियो द्वारा शब्दों को दूर भेजने के पहले शब्द-तरंगों को माइक्रोफोन द्वारा विद्युत तरंगों में बदलना होता है। अब ये ही विद्युत-तरंगें रेडियो तरंगों पर आरूढ़ कराकर हजारों-लाखों मील दूर भेजी जाती हैं और निर्दिष्ट स्थान पर रेडियो-सेट पर विद्युत-तरंगें रेडियो-तरंगों से अलग कर ली जाती हैं, और टेलीफोन-रिसीवर में ये शब्द-तरंगों में पुनः परिवर्तित हो जाती हैं। टेलीविजन की करीब-करीब यही कहानी है। शब्द-तरंगों के स्थान पर यहां प्रकाश-रश्मियों का प्रयोग करना पड़ता है

साथ ही माइक्रोफोन की तरह एक ऐसे यन्त्र को भी हमें इस्तेमाल में लाना होता है जिसकी सहायता से प्रकाश-रश्मियां विद्युत-तरंगों में परिवर्तित की जा सकें, इस स्थान पर यह बता देना अनुपयुक्त न होगा कि दूरस्थ स्थानों का विना किसी सहारे के रेडियो-तरंगों को ही हम भेज सकते हैं, ऐसा करने में रेडियो-तरंगों की शक्ति का अधिक ह्रास नहीं होता। साथ ही इन पर केवल विद्युत-तरंगें ही आरूढ़ करायी जा सकती हैं। मानों रेडियो-तरंग घोड़े की सवारी है और उस पर केवल ईसाई सवार हो सकता है। जिस किसी को हम दूर भेजना चाहें, हमें पहले उसे ईसाई वनाना पड़ेगा और तव उसे इस घोड़े पर आरूढ़ कराना होगा। शब्द हो या प्रकाश, दोनों को आरुढ़ कराने के पहले विद्युत्-तरंगों में परिणत करना होगा।

टेलीविजन के प्रारम्भिक काल में सेलिनियम धातु का प्रयोग प्रकाश को विद्युत्-तरंगों में परिणत करने के लिए कियां गया था, किन्तु सेलिनियम में अनेक त्रुटियां थीं और लोग निरन्तर इस खोज में थे कि कोई ऐसी धातु मिल जाय जिससे उपर्युक्त काम हम निकाल सकें। फोटो एलेक्ट्रिक सेल के आविष्कार ने इस मुश्किल को भी हल कर दिया। यह सेट एक शीशे के ग्लास का बना होता है जिसके भीतरी दीवार के एक भाग पर सोडियम धातु की एक पतली तह चढ़ी होती है। प्रकाश की किरणें जब इस दीवार पर पड़ती हैं तो सोडियम में से विद्युत् कणों (एलेक्ट्रान) की एक तेज बौछार निकलने लगती है—अतएव सेल में एक विद्युत्-धारा प्रवाहित होने लगती है—प्रकाश की किरणें जितनी ही तेज होंगी, विद्युत्-धारा में भी उतनी ही तेजी होगी। प्रकाश के चढ़ाव-उतार के अनुसार विद्युत-धारा में भी चढ़ाव-उतार उत्पन्न होता है।

अब हम चित्र और दृश्य के टेलीवाइज करने के तरीकों पर आते हैं। किसी भी तस्वीर को हम नन्हें-नन्हें बिन्दुओं की मदद से बना सकते हैं। सस्ते समाचार-पत्रों के चित्र वड़े-वड़े बिन्दुओं से बने होते हैं अतएव वे साफ और वढ़िया नहीं उतरते। विन्दु जितने ही छोटे होंगे, तस्वीर उतनी ही बढ़िया होगी। टेलीवाइज करते समय ऐक्टर के चेहरे पर प्रकाश की एक तेज किरण डाली जाती है। यह किरण तीव्र गति से ऐक्टर के चेहरे पर एक सिरे

से दूसरे सिरे पर समानान्तर रेखाओं में दौड़ जाती है। इस क्रिया को 'स्कैनिंग' कहते हैं। इस प्रकार किसी लहमें पर चेहरे के केवल एक बिन्दु पर प्रकाश रहता है और इसी बिन्दु से प्रकाश निकाल कर फोटो एलेक्ट्रिक सेल पर पडता है। चूँकि चेहरे के सभी भागों से प्रकाश समान रूप में नहीं प्राप्त होता, अतएव फोटो एलेक्ट्रिक सेल की विद्युत्-तरंग में उसी तरह का चढ़ाव-उतार मौजूद रहता है। अब रेडियो ब्राडकास्ट की तरह विद्युत्-तरंगों को रेडियो-तरंगों पर आरूढ़ करा देते हैं।

रिसीविंग स्टेशन पर विद्युत-तरंगों को रेडियो से अलग कर प्रकाश में पुनः परिवर्तित करना पड़ता है। यह एक कठिन क्रिया है। फोटो एलेक्ट्रिक सेल प्रकाश को विद्युत-तरंगों में बदल सकता है, किन्तु विद्युत्-तरंगों को प्रकाश में बदलना इसके लिए सम्भव नहीं। इस समस्या को हल करने के लिए वैज्ञानिकों को काफी दिनों तक माथापच्ची करनी पडी। नियान लैम्प (बल्व) के जाल का प्रयोग किया गया। चढ़ाव-उतार वाली विद्युत्-तरंगे रिसीविंग स्टेशन पर ठीक उसी क्रम और रफ्तार से, जिस प्रकार प्रकाश-रश्मियाँ ब्राडकास्टिंग स्टेशन पर एक्टर के चेहरे पर डाली जाती हैं, इन नियान लैम्पों में प्रवाहित की जाती हैं। एक-एक करके ये बल्व प्रकाश के साथ क्षण भर के लिए जल उठते हैं। इस प्रकार एक सिरे से दूसरे सिरे तक सभी लैम्प एक-एक करके प्रकाश देते हैं।

मनुष्य की आँखों की यह विशेषता है कि चक्षु-पटल पर बनी हुई प्रतिमाएँ कुछ देर तक बनी रहती हैं। दृश्य गायब हो जाने के बाद १/१० सेकेण्ड तक आपकी आँखों में उस दृश्य का चित्र कायम रहता है। अतएव यदि भिन्न-भिन्न चित्र एक-एक करके सामने आते जांय और उनके बीच का अन्तर १/१० सेकेण्ड से अधिक न हो, तो आपको एक चित्र दूसरे चित्र से मिला हुआ जान पड़ेगा। टेलीविजन में टेलीवाइज करते समय और रिसीविंग स्टेशन पर चित्र के पुनर्निर्माण में प्रकाश की किरण एक-एक बिन्दु से गुजरती हुई पूरी तसवीर के ऊपर से होकर १/२५ सेकेण्ड में एक बार गुजर जाती हैं। अतएव जिस समय चित्र के एक-एक बिन्दु बनते हैं, आपकी आँखों से चित्र के शुरू का भाग अभी मिटने नहीं पाता कि उसका अन्तिम छोर भी बन जाता है। आपको ऐसा जान पड़ता है मानों पूरी तसवीर आप सामने देख रहे हैं।

नियान लैम्प के बने चित्र पहले बड़े भद्दे हुआ करते थे। अमेरिकन वैज्ञानिकों ने अब वर्षों के अथक परिश्रम के उपरान्त टेलीविजन के चित्रों के पुनर्निर्माण की एक बढ़ियां रीति ढूंढ़ निकाली है। इसमें कैथ ड-रे टयूब प्रविष्ट करा देते हैं। अब इन्हीं तरंगों की शक्ति के अनुसार विद्युत-कणों की रफ्तार भी घटती बढ़ती है। साथ ही विद्युत-कणों की उस तीक्ष्ण रश्मि को शीशे के परदे पर, जिस पर मसाला पुता होता है, इसी रफ्तार से समानान्तर रेखाओं में घुमाते हैं, जिस रफ्तार से टेलीविजन करते समय प्रकाश की रश्मियाँ चित्र पर घुमाई जाती हैं। इन दोनों क्रियाओं में पूर्ण सामंजस्य का होना नितान्त आवश्यक है। दोनों की रफ्तार में यदि [illegible] सेकेण्ड का भी अन्तर पड़ गया तो किया-कराया सारा खेल चौपट। विद्युत-कणों की बौछार जब सामने वाले पर्दे पर पड़ती है, तो मसाला चमक उठता है। इस तरह पूरे चित्र को एक-एक बिन्दु करके १/२५ सेकेण्ड के अन्दर अंकित कर देते हैं। एक सेकेण्ड के अन्दर २५ बार तस्वीर का निर्माण होता है। ऐसा करने के लिए चुम्बक के जरिये कैथोड-रे (विद्युत-कण की बौछार) को प्रति मिनट बीस मील की रफ्तार से तसवीर के एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड़ना पड़ता है।

युद्ध के दौरान में टेलीविजन के क्षेत्र में अनेक सैद्धान्तिक अनुसन्धान किये गये हैं। अमेरिका ने इस दिशा में विशेष प्रगति की है। फलस्वरूप पहले की भाँति अब टेलीविजन के चित्र धुंधले नहीं होते। चटकीले, स्पष्ट और काले तथा सफेद रंग में अच्छे फोटोग्राफ की तरह ये चित्र टेलीविजन सेट पर उतरते हैं। घर के टेलीविजन सेट में चित्र १८ × २४ इञ्च के परदे पर देखे जा सकते हैं। सिनेमाघरों में टेलीविजन के चित्र १५ × २० फीट के पर्दे पर दिखलाये जा रहे हैं।

टेलीविजन का भविष्य निस्सन्देह उज्ज्वल है। निकट भविष्य में शिक्षा तथा विज्ञापन आदि के लिए भी टेलीविजन का इस्तेमाल बड़े पैमाने पर होगा। अमेरिका में इन दिनों भी बड़ी-बड़ी फर्में विज्ञापन के लिए टेलीविजन का उपयोग कर रही हैं। भारत में भी टेलीविजन का प्रसार दिनों-दिन तेजी से बढ़ रहा है। इस समय दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, अमृतसर, लखनऊ आदि नगरों में टेलीविजन द्वारा विविध कार्यक्रम प्रसारित किये जा रहे हैं।

टेलीविजन निस्सन्देह हमारे सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का समावेश करेगा। रेडियो सेट की भाँति घर-घर में टेलीविजन सेट मौजूद होंगे। शाम को घर के सभी लोग इकट्ठे होकर टेलीविजन सेट के पर्दे पर छोटे-छोटे ड्रामें देख और सुन सकेंगे। सम्भवतः सैकड़ों मील दूर की घटनाएँ भी वे सेट के पर्दे पर तत्काल ही देखेंगे। टूर्नामेण्ट आदि के दृश्य भी तत्काल ही टेलीवाइज किये जा सकेंगे, ताकि लोग घर के अन्दर ड्राइंग रूम में बैठे-बैठे दूर के दृश्यों का आनन्द उठा सकें।

युद्ध के पहले टेलीविजन ब्राडकास्टिग हाउस से ब्राडकास्ट की गयी रेडियों-तरंगे अधिक से अधिक ५० मील की दूरी तक ग्रहण की जा सकती थीं, किन्तु अब अमेरिकन इंजीनियरों ने ब्राडकास्टिग के लिए एक नयी स्कीम बनायी है जिसके अनुसार टेलीविजन के प्रोग्राम ऊर्ध्वाकाश में ६ मील की ऊँचाई पर उड़ते हुए स्ट्रैटोस्फियर वायुयानों द्वारा ब्राडकास्ट किये जा सकेंगे। ये प्रोग्राम लगभग ४०० मील चौड़े क्षेत्र में ग्रहण किये जा सकेंगे। इस सिलसिले में अमेरिकन कम्पनी वेस्टिग हाउस एलेक्ट्रिक कारपोरेशन ने अभी हाल में १४ ऊर्ध्वाकाश वायुयानों की सहायता से टेलीविजन ब्राडकास्ट के प्रयोग किये हैं। इस कम्पनी के इंजीनियरों का कहना है कि ऊर्ध्वाकाश से ब्राडकास्ट करने में शक्ति का व्यय भी अपेक्षाकृत कम होता है। हिसाब लगाकर उन्होंने यह भी दिखाया कि धरती पर ब्राडकास्टिग स्टेशन बनाकर उतनी दूर तक टेलीविजन प्रोग्राम पहुँचाने पर प्रति घण्टे १२ हजार डालर का खर्च पड़ता है जबकि स्ट्रैटोस्फियर-वायुयानों द्वारा ब्राडकास्ट करने पर प्रति घण्टा यह खच केवल एक हजार डालर पड़ता है। इस ढंग के वायुयान के अन्दर तीन व्यक्ति वायुयान के चलाने तथा उसकी देख रेख के लिए होंगे और ६ इंजीनियर ब्राडकास्टिग यन्त्र के परिचालन के लिए।

अन्य क्षेत्रों में भी टेलीविजन की उपयोगिता को वैज्ञानिकों ने पहचाना है। उदाहरण के लिए अनुभवी सर्जन यदि हृदय का आपरेशन करता है, तो उस कमरे में अधिक से अधिक पाँच या छह विद्यार्थी ही आपरेशन की क्रिया को देखकर आपरेशन का सही तरीका सीख सकते हैं। किन्तु टेलीविजन की सहायता से बड़े-बड़े हाल में पर्दे पर आपरेशन की सम्पूर्ण क्रिया तीन-चार

सौ विद्यार्थियों को सुगमता से दिखलायी जा सकती है। अमेरिका के कुछ बड़े अस्पतालों के आपरेशन-थियेटर में तो स्थायी रूप से टेलीविजन के यन्त्र फिट कर दिये गये हैं ताकि महत्त्वपूर्ण आपरेशन की क्रियाएं टेलीविजन द्वारा पर्दे पर विद्यार्थियों को दिखलायी जा सकें।

परमाणु-विभंजन के प्रयोगों में टेलीविजन द्वारा प्रयोग के खतरे से अपने को बचाया जा सकता है। उदाहरण के लिए रश्मिविकीरक पदार्थों के साथ प्रयोग करने में इस बात का खतरा सदैव बना रहता है कि उन पदार्थों से विकीरित होने वाली रेडियो एक्टिव किरणें शरीरांगों पर पड़कर घातक रोग न उत्पन्न कर दें किन्तु टेलीविजन यंत्र द्वारा प्रयोगस्थल के यंत्रों का निरीक्षण दूर से किया जा सकता है तथा नियन्त्रक-यन्त्रों से उनका परिचालन भी दूर से करते हैं। वास्तव में परमाणु-विभंजन के उपयोगों में टेलीविजन द्वारा यन्त्रों के दूर से परिचालन की व्यवस्था अत्यन्त वांछनीय है।

उद्योग-व्यवसाय के क्षेत्र में टेलीविजन महत्त्वपूर्ण योग दे सकता है। कुछ ही दिन हुए अमेरिका की एक औद्योगिक प्रदर्शिनी में दिखलाया गया था कि किस प्रकार टेलीविजन की सहायता से दूर से ही इंजीनियर भारी बोझ उठाने वाले क्रेन का परिचालन कर सकता है। यद्यपि क्रेन, इंजीनियर की दृष्टि से परे रहता है; किन्तु क्रेन का चित्र टेलीविजन यन्त्र के पर्दे पर हर क्षण रहता है। अतः दूर बैठा हुआ इंजीनियर कल-पुर्जों की सहायता से क्रेन का समुचित रूप से परिचालन करने में समर्थ होता है। इस सिलसिले में एक रोचक घटना का वर्णन करना अनुपयुक्त न होगा। सन् १९५१ में ब्रिटेन का एक पनडुब्बी जहाज समुद्र में डूब गया। इस जगह समुद्र की गहराई बहुत अधिक थी, अतः यह सम्भव न था कि गोताखोर स्वयं डुबकी लगाकर उस पनडुब्बी जहाज के अन्दर के सामान तथा कलपुर्जों को उखाड़कर ऊपर ले आते। इस लिए इस कार्य को पूरा करने के लिए टेलीविजन की सहायता ली गयी। टेलीविजन कैमरे के चारों ओर तीव्र प्रकाश फेंकने वाली सर्चलाइट लगी थी ताकी गहरे पानी के अन्दर के दृश्य का बिम्ब टेलीविजन द्वारा पानी की सतह पर रखे यंत्र के पर्दे पर दीख सके। इस प्रकार ऊपर से ही क्रेन आदि का परिचालन करके पनडुब्बी जहाज का सामान उठाया जा सका।

इस ढंग के टेलीविजन यंत्र द्वारा अतुल जलराशि के नीचे पाये जाने वाले वनस्पति तथा जीवों का चलचित्र भी सरलतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं। जीव-वैज्ञानिकों का कहना है कि टेलीविजन यन्त्र द्वारा गहरे जल में पाये जाने वाले जीवों तथा पौधों के बारे में वे शीघ्र ही अनेक महत्त्वपूर्ण बातों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। आकाश के सुदूर नक्षत्रों की फोटो उतारने के लिए भी टेलीविजनयुक्त कैमरे काम में लाये जायंगे और तब उन मन्द प्रकाशवाले नक्षत्रों के बिम्ब भी प्राप्त किये जा सकेंगे जिनकी फोटो साधारण कैमरे से प्राप्त नहीं की जा सकती।

टेलीविजन द्वारा रंगीन वस्तुओं के चित्र भी उनके स्वाभाविक रंग में प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं। अवश्य इस क्षेत्र में अभी बहुत कुछ काम बाकी है; किन्तु रंगीन टेलीविजन के भविष्य में अनेक महत्त्वपूर्ण सम्भावनाएं निहित हैं। उदाहरण के लिए शल्य-चिकित्सा में सर्जन जिन शरीरांगो का आपरेशन करता है, यदि उनका टेलीविजन चित्र ठीक स्वाभाविक रंगों में ही पर्दे पर दिखाया जा सके तो निःसंदेह शल्य-चिकित्सा के विद्यार्थी ऐसे चित्र से अधिक अनुभव-ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। गहरे जल में विचरनेवाले जीव-जन्तुओं के चित्र भी उनके स्वाभाविक रंग में ही टेलीविजन द्वारा प्राप्त किये जा सकेंगे।

ओलिम्पिक में भारतीय हॉकीदल की पराजय

श्रीनारायण चतुर्वेदी

बहुत दिनों ऐसा समझा जाता था कि भारत का राष्ट्रीय खेल हॉकी है और उसने कई दशक संसार में अपना शिरोमणि स्थान सुरक्षित रखा। किन्तु कई वर्ष पूर्व पाकिस्तान ने उसे पराजित कर दिया और इस वर्ष म्यूनिख में पश्चिमी जर्मनी ने भी उसे पराजित कर दिया। फलस्वरूप पश्चिमी जर्मनी को स्वर्ण पदक, पाकिस्तान को रजत पदक और भारत को कांस्य पदक मिला। खेल की भावना यही है कि सर्वोत्तम खिलाड़ी और खिलाड़ी दलों को पुरस्कार मिले, और जो लोग हारें वे अपनी हार को अच्छे खिलाड़ियों की तरह प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करें। किन्तु दुर्भाग्य है, पाकिस्तान के खिलाड़ियों ने पश्चिमी जर्मनी से हारने के बाद जो हुड़दंग किया और पुरस्कार वितरण के समय जो अशिष्टता दिखायी तथा पश्चिमी राष्ट्रध्वज का जो अपमान किया, उससे स्पष्ट है कि पाकिस्तान के खिलाड़ियों में खिलाड़ीपन की स्वस्थ भावना का कितना अभाव है। परिणामस्वरूप ओलिम्पिक खेलों के अधिकारियों ने पाकिस्तानी हॉकीदल के भाग लेने वाले सब खिलाड़ियों को भविष्य में ओलिम्पिक खेलों में भाग लेने का निषेध कर दिया है। पाकिस्तान हॉकीदल की इस अशिष्टता की भर्त्सना सारे संसार में हुई है। देखना है कि पाकिस्तान के खिलाड़ी इससे कुछ शिक्षा लेते हैं या नहीं।

यह अनिवार्य था कि भारत ने ओलिम्पिक खेलों में जो अनुपयुक्त करतब दिखाया, उससे सारे देश में क्षोभ की लहर फैल गयी है। वह केवल हॉकी में कांस्य पदक ही प्राप्त कर सका। और किसी खेल में उसका करतब बहुत निराशाजनक रहा। अब पत्रों में इसकी शव-परीक्षा हो रही है। कोई हॉकी खिलाड़ियों के प्रशिक्षक को दोष देता है तो कोई खिलाड़ियों के चुनाव करने वालों की। किन्तु हॉकी को छोड़कर अन्य खेलों में भारत के दयनीय प्रदर्शन पर बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। अजीब बात यह है कि जब रेडियो से

हॉकी या क्रिकेट के खेलों का हाल देखा वर्णन प्रसारित होता है तो प्रत्येक रेडियो के पास सुननेवालों की भीड़ लग जाती है और वे उसमें बड़ा रस लेते हैं। उनमें अधिकांश संख्या विद्यार्थियों और नौजवानों की होती है। पर ये केवल खेल के वर्णन सुनने में रुचि लेते हैं—स्वयं नहीं खेलते। जब तक हमारे विद्यार्थियों और नौजवानों में खेलो में सक्रिय भाग लेने की प्रवृत्ति जागृत नहीं होती तब तक प्रतिभाशाली खिलाड़ी उत्पन्न नहीं हो सकते। हमारी सरकार भी इसके लिए कम उत्तरदायी नहीं है। वह नदी की बाढ़ की तरह विद्यालयों और महाविद्यालयों की संख्या तो बढ़ाती जाती है, पर जब वह उनके शिक्षा के स्तर तक को अपेक्षित स्तर तक रखने में असमर्थ है तब वह शारीरिक शिक्षा की ओर कैसे ध्यान दे ? अधिकांश विद्यालयों में खेल के मैदान ही नहीं हैं और जहाँ हैं भी वे अपर्याप्त हैं और उनका ठीक-ठीक उपयोग भी नहीं होता। इसका एक बड़ा कारण शिक्षा अधिकारियों की शारीरिक शिक्षा के प्रति घोर उपेक्षा, सरकार की उदासीनता और अध्यापकों का खेलों में अरुचि और निष्क्रियता है। ५६ करोड़ के देश में केवल कुछ चुने हुए संस्थानों में ही अत्यल्प संख्या में खेलों की ओर ध्यान दिया जाता है। प्रोफेसर, प्राध्यापक, अध्यापक और अधिकारी या तो किताबी कीड़े हैं या फाइलबाजी में आकण्ठ निमग्न रहना ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं। ऐसी स्थिति में जिन लड़कों में खेल की प्रतिभा है, उसे भी विकसित होने का अवसर नहीं मिलता। विद्यार्थियों का यह हाल है कि वे सिनेमा, काफ़ी हाउस और गप्प हाँकने तथा उल्टे-सीधे आन्दोलन के लिये तो समय निकाल लेते हैं पर खेल या शारीरिक प्रशिक्षण के लिये अरुचि के कारण वे बहाना कर देते हैं कि उन्हें समय ही नहीं है। पहिले इस देश में—हमारे लड़कपन में—प्रत्येक शहर में कुश्ती और देशी व्यायाम के अनेक अखाड़े होते थे तथा कितने ही शहरों में जिम्नास्टिक होते थे। अब वे सब समाप्त हो गये हैं। इसके लिए माता-पिता, अभिभावक और समाज-सेवी भी कम दोषी नहीं हैं।

एक और गम्भीर समस्या है। व्यायाम करने या कठिन खेल खेलने वाले को पौष्टिक आहार मिलना चाहिए। लखनऊ में ग्वालों ने भैंस के दूध का भाव दो रुपया किलो कर दिया है। सरकारी डेयरियों का 'टोनंड' दूध बीमारों और

कम हाजमावालों तथा चाय के लिए भले ही ठीक हो. व्यायाम करने वाले के लिए अनुपयुक्त है। उसमें शक्ति देने की वह क्षमता ही नहीं जो असली और शुद्ध दूध में है। यह देश सामान्यतः शाकाहारी है और पहलवानी करने वाले तथा खिलाड़ी बादाम खाया करते थे। लखनऊ में सबसे सस्ता बढ़िया बादाम ३२ रुपया किलो बिकता है। उसकी कितनी मिंगी निकलेगी और इस सोशलिस्ट और गरीबी हटाओ युग में आध पाव बादाम की मिंगी कितने लोग नित्य खाने के लिए खर्च कर सकते हैं ? अतएव बहुत से नवयुवक पौष्टिक आहार के अभाव में चाहते हुए भी व्यायाम नहीं कर सकते क्योंकि यदि पौष्टिक भोजन न मिले तो व्यायाम लाभ के बदले हानि पहुंचायेगा। वाग्भट ने लिखा—'अर्द्धशक्त्यातु सेव्यस्तु बलिभिः स्निग्ध भोगिभिः' अर्थात् जो बलवान् तर माल खानेवाला हो वह अपनी शक्ति से आधा ही व्यायाम करे। यदि बिना तर माल खाये व्यायाम किया जाय या थकाने वाला खेल खेला जाय तो वह लाभ के बदले हानि करेगा।

यह सब सरकार की नीति पर निर्भर है। यदि सरकार नौजवानों को पौष्टिक भोजन नहीं दे सकती, महँगाई नहीं रोक सकती, विद्यालयों में खेलों के मैदान नहीं दे सकती, अपने अधिकारियों और शिक्षकों को शारीरिक शिक्षा पर पूरा ध्यान देने में असमर्थ है तो उसे ओलिम्पिक ऐसे खेलों में 'भूँखे-नंगे' भारत के खिलाड़ियों को भेजकर जग हँसाई नहीं करनी चाहिए। भारत के नौजवानों में अब भी बहुत ऐसे युवक हैं जो खेलना चाहते हैं और अच्छे खिलाड़ी हो सकते हैं किन्तु सरकारी उपेक्षा के जलाभाव और अधिकारियों की उदासीनता रूपी पाले से उनकी उपज को पाला मार जाता है। यदि देश वास्तव में शारीरिक शिक्षा को महत्त्व देता है और सरकार केवल खेलों के नारेबाजी नहीं करती तो उन्हें इन तथ्यों पर गम्भीरता से विचार करना है।

आलोक-पर्व

हजारीप्रसाद द्विवेदी

मार्कण्डेय पुराण के अनुसार समस्त सृष्टि की मूलभूत आद्याशक्ति महालक्ष्मी है। वह सत्व, रज और तम तीनों गुणों का मूल समवाय है। वही आद्याशक्ति है। वह समस्त विश्व में व्याप्त होकर विराजमान है। वह लक्ष्य और अलक्ष्य, इन दो रूपों में रहती है। लक्ष्य रूप में यह चराचर जगत ही उसका स्वरूप है और अलक्ष्य रूप में यह समस्त जगत की सृष्टि का मूल कारण है। उसी से विभिन्न शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। दीपावली को इसी महालक्ष्मी का पूजन होता है। तामसिक रूप में वह क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, कालरात्रि, महामारी के रूप में अभिव्यक्त होती है, राजसिक रूप में वह जगत् का भरण-पोषण करनेवाली 'श्री' के रूप में उन लोगों के घर में आती है, जिन्होंने पूर्व-जन्म में शुभ कर्म किए होते हैं; परन्तु यदि इस जन्म में उनकी वृत्ति पाप की ओर जाती है, तो वह भयंकर अलक्ष्मी बन जाती है। सात्त्विक रूप में वह महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक्, सरस्वती के रूप में अभिव्यक्त होती है। मूल आद्याशक्ति ही महालक्ष्मी है।

शास्त्रों में ऐसे वचन भी मिल जाते हैं, जिनमें महाकाली या महासरस्वती को ही आद्याशक्ति कहा गया है। जो लोग हिन्दू शास्त्रों की पद्धति से परिचित नहीं होते, वे साधारणतः इस प्रकार की बातों को देखकर कह उठते हैं कि यह 'बहुदेव वाद' है। यूरोपियन पंडितों ने इसके लिए 'पालिथीज्म' शब्द का प्रयोग किया है। पालिथीज्म या बहुदेववाद से एक ऐसे धर्म का बोध होता है, जिसमें अनेक छोटे-बड़े देवताओं की मंडली में विश्वास किया जाता है। इन देवताओं की मर्यादा और अधिकार निश्चित होते हैं। जो लोग हिन्दू शास्त्रों की थोड़ी भी गहराई में जाना आवश्यक समझते हैं, वे इस बात को कभी नहीं स्वीकार कर सकते। मैक्समूलर ने बहुत पहले बताया था कि वेदों में पाया जानेवाला 'बहुदेववाद' वस्तुतः बहुदेववाद है ही नहीं, क्योंकि न तो वह ग्रीक

रोमन बहुदेववाद के समान है, जिसमें बहुत-से देव-देवी एक महादेवता के अधीन होते हैं और न अफ्रीका आदि देशों की आदिम जातियों में पाये जाने-वाले बहुदेववाद के समान है जिसमें छोटे-मोटे अनेक देवता स्वतंत्र होते हैं। मैक्समूलर ने इस विश्वास के लिए एक शब्द सुझाया था—हेनोथीज्म, जिसे हिन्दी में 'एकैकदेववाद' शब्द से कुछ-कुछ स्पष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार के धार्मिक विश्वास में अनेक देवता की उपासना होती अवश्य है, पर जिस देवता की उपासना चलती रहती है, उसे ही सारे देवताओं से श्रेष्ठ और सबका हेतुभूत माना जाता है। जैसे जब इन्द्र की उपासना का प्रसंग होगा, तो कहा जायगा कि इन्द्र ही आदि देव है, वरुण, यम, सूर्य, चन्द्र, अग्नि सबका वह स्वामी है और सबका मूलभूत है। पर जब अग्नि की उपासना का प्रसंग होगा तो कहा जायेगा कि अग्नि ही मुख्य देवता है और इन्द्र, वरुण आदि का स्वामी है और सबका मूलभूत देवता है, इत्यादि।

परन्तु थोड़ी और गहराई में जाकर देखा जाये तो इसका स्पष्ट रूप अद्वैत-वाद है। एक ही देवता है, जो विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। उपासना के समय उसके जिस विशिष्ट रूपका ध्यान किया जाता है, वही समस्त अन्य रूपों में मुख्य और आदिभूत माना जाता है। इसका रहस्य यह है कि साधक सदा मूल अद्वैत सत्ता के प्रति सजग रहता है। अपनी रुचि और संस्कारों और कभी-कभी प्रयोजन के अनुसार वह उपास्य के विशिष्ट रूप की उपासना अवश्य करता है, परन्तु शास्त्र उसे कभी भूलने नहीं देना चाहता कि रूप कोई हो, है वह मूल अद्वैत सत्ता की ही अभिव्यक्ति। इस प्रकार हिन्दू शास्त्रों की इस पद्धति का रहस्य यही है कि उपास्य वस्तुतः मूल अद्वैत सत्ता का ही रूप है। इसी बात को और भी स्पष्ट करके वैदिक ऋषि ने कहा था कि जो देवता अग्नि में है, जल में है, वायु में है, औषधियों में है, वनस्पतियों में है, उसी महादेव को मैं प्रणाम करता हूँ!

आज से कोई दो हजार वर्ष पहले से इस देश के धार्मिक साहित्य में और शिल्प और कला में यह विश्वास मुखर हो उठा है कि उपास्य वस्तुतः देवता की शक्ति होती है। यह नहीं है कि यह विचार नया है, पहले था ही नहीं, पर उपलब्ध धार्मिक साहित्य और शिल्प और कला-सामग्री में यह

बात इस समय से अधिक व्यापक रूप में और अत्यधिक मुखर भाव से प्रकट हुई दीखती है। इस विश्वास का सबसे बड़ा आवश्यक अंग यह है कि शक्ति और शक्तिमान में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, दोनों एक हैं! चन्द्रमा और चन्द्रिका की भांति वे अलग-अलग प्रतीत होकर भी तत्त्वतः एक हैं—अन्तरं नैव जानीमश्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव। परन्तु उपास्य शक्ति ही है। जो लोग इस विश्वास को अपनी तर्क सम्मत सीमा तक खींचकर ले जाते हैं, वे शाक्त कहलाते हैं। जो शक्ति और शक्तिमान् के एकत्व पर अधिक जोर देते हैं, वे शाक्त नहीं कहलाते। मगर कहलाते हों या न कहलाते हों, शक्ति की उपास्यता पर विश्वास दोनों का है। जिन लोगों ने संसार की भरण-पोषण करनेवाली वैष्णवी शक्ति को मुख्य रूप से उपास्य माना है, उन्होंने उस आदि भूता शक्ति का नाम 'महालक्ष्मी' स्वीकार किया है। दीपावली के पुण्य-पर्व पर इसी आद्याशक्ति की पूजा होती है। देश के पूर्वी हिस्सों में इस दिन महाकाली की पूजा होती है। दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है। केवल रुचि और संस्कार के अनुसार आद्याशक्ति के विशिष्ट रूपों पर बल दिया जाता है। पूजा आद्याशक्ति की ही होती है। मुझे यह ठीक-ठीक नहीं मालूम कि देश के किसी कोने में इस दिन महासरस्वती की पूजा होती है या नहीं। होती हो तो कुछ अचरज की बात नहीं होगी। दीपावली का पर्व आद्याशक्ति के विभिन्न रूपों के स्मरण का दिन है।

यह सारा दृश्यमान जगत ज्ञान, इच्छा और क्रिया के रूप में त्रिपुटीकृत है। ब्रह्म की मूल शक्ति में इन तीनों का सूक्ष्मरूप में अवस्थान होगा। त्रिपुटीकृत जगत की मूल कारणाभूता इस शक्ति को 'त्रिपुरा' भी कहा जाता है। आरम्भ में जिसे महालक्ष्मी कहा गया है उससें यह अभिन्न है। ज्ञान रूप में अभिव्यक्त होने पर यह सत्त्व गुणप्रधान सरस्वती के रूप में, इच्छारूप में, रजोगुणप्रधान लक्ष्मी के रूप में और क्रिया रूप में तमोगुणप्रधान काली के रूप में उपास्य होती है। लक्ष्मी इच्छा रूप में अभिव्यक्त होती है। जो साधक लक्ष्मी रूप में आद्याशक्ति की उपासना करते हैं, उनके चित्त में इच्छा तत्त्व की प्रधानता होती है, पर बाकी दो तत्त्व—ज्ञान और क्रिया—भी उसमें सहायक होते हैं। इसीलिए लक्ष्मी की उपासना 'ज्ञान पूर्वा क्रियापरा' होती है,

अर्थात् वह ज्ञान द्वारा चालित और क्रिया द्वारा अनुगमित इच्छा-शक्ति की उपासना होती है। 'ज्ञानपूर्वा क्रियापरा' का मतलब है कि यद्यपि इच्छा शक्ति ही मुख्यतया उपास्य है, पर पहले ज्ञान की सहायता और बाद में क्रिया का समर्थन इसमें आवश्यक है। यदि उल्टा हो जाये, अर्थात् इच्छाशक्ति की उपासना क्रियापूर्वा और ज्ञानपरा हो जाये तो उपासना का रूप बदल जाता है। पहली अवस्था में उपास्या लक्ष्मी समस्त जगत् के उपकार के लिए होती है। उस लक्ष्मी का वाहन गरुड़ होता है। गरुड़ शक्ति, वेग और सेवावृत्ति का प्रतीक है। दूसरी अवस्था में उसका वाहन उल्लू होता है। उल्लू स्वार्थ, अन्धकार प्रियता और विच्छिन्नता का प्रतीक है। लक्ष्मी तभी उपास्य होकर भक्त को ठीक-ठीक कृतकृत्य करती है जब उसके चित्त में सबके कल्याण की कामना रहती है। यदि केवल अपना स्वार्थ ही साधक के चित्त में प्रधान हो, तो वह उलूकवाहिनी शक्ति की ही कृपा पा सकता है। फिर तो वह तमोगुण का शिकार हो जाता है। उसकी उपासना लोककल्याण मार्ग से विच्छिन्न होकर वन्ध्या हो जाती है। दीपावली प्रकाश का पर्व है। इस दिन जिस लक्ष्मी की पूजा होती है, वह गरुड़वाहिनी है—शक्ति, सेवा और गतिशीलता उसके मुख्य गुण हैं। प्रकाश और अन्धकार का नियत विरोध है। अमावस्या की रात को प्रयत्न पूर्वक लाख-लाख प्रदीपों को जलाकर हम लक्ष्मी के उलूकवाहिनी रूप की नहीं, गरुड़वाहिनी रूप की उपासना करते हैं। हम अंधकार का, समाज से कटकर रहने का, स्वार्थपरता का प्रयत्नपूर्वक प्रत्याख्यान करते हैं और प्रकाश का, सामाजिकता का और सेवावृत्ति का आह्वान करते हैं। हमें भूलना न चाहिए कि यह उपासना ज्ञान द्वारा चालित और क्रिया द्वारा अनुगमित होकर ही सार्थक होती है—

सर्वस्या दया महालक्ष्मीस्त्रिगुणा परमेश्वरी।
लक्ष्यालक्ष्यस्वरूपा सा व्याप्य कृत्स्नं व्यवस्थिता॥

रद्दी टोकरी

इन्द्रनाथ मदान

इस टोकरी के बारे में इतना ही कह सकता हूँ कि यह मेरे जीवन का एक अंग है और मैं इसका आभारी हूँ। यह इसलिए नहीं कि इस समय मेरे पास यह सबसे पुरानी चीज है और पुरानी चीज से मेरा लगाव उतना ही बढ़ता जाता है जितना पुराने विचार या व्यक्ति से घटता जाता है। इस टोकरी से अधिक पुराना केवल मैं हूँ और मैं वस्तु न होकर व्यक्ति हूँ। इसलिए अपने से भी मोह कम होता गया है। इससे अधिक पुरानी चीजों को पाकिस्तान में छोड़ना पड़ा है। इनकी याद अब भी कभी-कभी ताजा हो उठती है। मेरा नया रेडियो पुराने से बेहतर है, मेरी नयी कलम पुरानी से अधिक महँगी है, मेरी नयी कुरसी पुरानी से अधिक आराम देती है। और कभी-कभी मुझे यह भी लगता है कि इस टोकरी की वजह से मेरा दिमाग पुराने से अधिक साफ और खाली है। इसका कारण रद्दी टोकरी इसलिए है कि यह खुद रद्दी न होकर रद्दी की है या रद्दी कागजों के लिए है। यह बाहर और भीतर के जीवन को उलझने नहीं देती, इसे साफ रखने में सहायता देती है। यह न तो उन बेकार कागजों का अंबार लगने देती है जिनमें मैं उलझ जाता था और न ही उन बेकार विचारों में खोने देती है जिनमें मैं अटक जाता था। अब मैं हर पत्र को संजोने की बजाय इसे पढ़ने और इनका जवाब देने के बाद इसे फाड़ कर इसमें डाल देता हूँ, हर निमंत्रण को स्वीकारने या अस्वीकारने के बाद इसमें छोड़ देता हूँ और हर इश्तहार को बिना पढ़े इसमें फेंक देता हूँ। यह हर दूसरे तीसरे रोज फटे कागजों से उसी तरह ठस जाती है जिस तरह दिमाग अखबारी विचारों से। इसे खाली करना इसलिए जरूरी हो जाता है कि यह मेरे दिमाग की तरह छोटी है और इसमें बहुत कुछ समा नहीं पाता। इसे बार-बार खाली करना इसलिए आवश्यक हो जाता है कि बेकार जिंदगी कहीं बेकार चीजों के बोझ से अधिक भारी न बन जाये। भारतीय रेलवे का भी बोझ के बारे में यही

उपदेश है; परन्तु इसका पालन वहुत कम होता है उपदेशों के पालन का युग ही वीत गया लगता है। तीसरे दरजे के डिब्बों में इस बात का पूरा एहसास हो जाता है कि देश की आवादी न केवल देश के लिए भार वनती जा रही है वल्कि अपने लिए भी। धरती ही इतना वोझ उठा सकती है। इसलिए यह शायद माँ है।

मेरे पास जब यह टोकरी नहीं थी तब जीवन में संकुलता अधिक गहरी थी। पत्रों के अम्बार लगे रहते थे, अनछपे लेखों के पन्ने जमा हो जाते थे। एक दिन यह टोकरी जन्मदिन के अवसर पर मुझे भेंट में मिली। मेरे मित्र ने यह अनुभव किया कि मुझे इसकी बड़ी आवश्यकता है। उसने मुझे एक दिन पुराने पत्रों से घिरा हुआ पाया और एक और दिन पुरानी पत्रिकाओं के पन्ने उलटते हुए देखा। मेरे पिता का भी जब मन उदास हो जाता था वह वंद वक्सों को खोलकर नये-पुराने कपड़ों की फिर से तहें लगाने लगते थे। इस तरह वह अतीत को जीवित कर लेते थे। मैं भी अपने पिता की तरह आगत से भागने के लिए पुराने पत्रों, पत्रिकाओं को खोल वैठता था। अनागत में अंधकार था और आगत में भय। इसलिए विगत में रमने के सिवाय और चारा ही क्या था। मुझे यह मालूम नहीं था कि आगत का सामना करने के लिए और विगत से छुटकारा पाने के लिए यह टोकरी कितने काम की हो सकती है। इसके आने के बाद मेरा जन्म-दिन दूसरे जन्म के समान हो गया है। एक नये वोध ने जन्म लिया है और इस नवजात बोध की जननी यह रद्दी टोकरी है। सब पुराने पत्रों को दोवारा पढ़ कर यह पाया कि इनमें एक भी रखने लायक नहीं है, पुराने लेखों को फिर से देखने पर यह लगा कि इनमें एक भी छपने योग्य नहीं हैं, पुराने इश्तहारों पर एक और नजर डालने पर यह महसूस हुआ कि इनमें एक भी काम का नहीं है। इस वजन पर पुराने विचारों को फिर से आँकने पर यह तय किया कि इनमें एक भी चिपकाने लायक नहीं है। इस तरह मेरी संकुलता में कमी आने लगी। इस संकुलता से पूरी मुक्ति पाना संभव नहीं जान पड़ता। कारण, टोकरी छोटी है और यह नीचे से फट गयी है। अब तो मैं इसका इतना आभारी हूँ कि इसे छोड़ने को जी नहीं चाहता।

इस टोकरी के विना भी जीना कठिन हो गया है। पत्रों का आना किस तरह वंद किया जा सकता है? इनका जवाब न देना भी बड़े आदमियों को ही

शोभा दे सकता है ! पत्रिकाओं का छापना और भेजना भी किस तरह रोका जा सकता है ? और इश्तहारों की तो बात ही अपनी है, युग ही इन पर जीता है। हर रोज डाक की इंतजार रहती है। किसी दिन दो-दो तीन-तीन बार अपना लेटरबॉक्स खोलना पड़ता है। लेटरबॉक्स टोकरी से बड़ा है। इतवार को डाक की बजाय डाकिये के आने की आशा बँध जाती है। देश की स्वाधीनता ने इतवार के दिन डाकिया को आराम देकर डाक पाने वाले के दिन को खालीकर दिया है। इतवार को या किसी और दिन जब डाक नहीं आती तब उस पागल की तरह महसूस होने लगता है जिसे गांव के लोग गालियाँ नहीं देते और वह समझने लगता है कि सब मर चुके हैं। इस तरह डाक अगर आती है तो बुरा और नहीं आती तो अधिक बुरा। डाक न आने पर खाली टोकरी बुरी तरह अपना मुंह खोले रहती है और अधिक आने पर यह अपच का शिकार हो जाती है। मेरे एक मित्र को शाम के वक्त दरबार लगाने की आदत पड़ चुकी है। अगर अधिक लोग मिलने आ जाते हैं तो इनकी बेचैनी बढ़ जाती है और किसी शाम अगर एक भी नहीं टपकता तो किसी को बुलाने के लिए संदेश भेजा जाता है। यही हाल मेरा और मेरी टोकरी का है।

इस टोकरी का मैं इसलिए भी आभारी हूं कि इसने मुझे लोगों की कड़वी बातों को याद करने से बचाया है, इनके उलाहनों को सुरक्षित रखने से मुक्ति दी है, अपने लेखों या खीजने से छुटकारा दिया है। इसने मुझे यह सीख दी है कि ज़ीवन में बहुत कुछ रद्दी होता है जिसे फेंका जा सकता है, बहुत कुछ फालतू होता है जिसे फाड़ा जा सकता है, बहुत कुछ बेकार होता है जिसे जलाया जा सकता है। एक पुरानी बात याद आ रही है। एक बार आज के विश्व-विद्यालयों में शोध या खोज के स्तर आँकते हुए एक चिंतक ने यह कहने का साहस किया था कि अगर इस सारे काम को रद्दी-टोकरी के हवाले कर दिया जाये तो हानि कम होगी और लाभ अधिक होगा। इस तरह हिंदी शोध के संबंध में एक आलोचक ने यह कहने की गुस्ताखी की थी कि यदि एक पुस्तक से उतारा जाये तो इसे साहित्यिक चोरी का अपराध कहा जाता है और यदि दस से उतारा जाये तो डॉक्टर की उपाधि मिल जाती है। मेरा इस मत से सहमत होना इसलिए कठिन है कि यह पाप मैंने भी कमाया है। इस स्थिति

का मूल कारण वास्तव में रद्दी की टोकरी का न होना है। यह टोकरी ही नीर-क्षीर का काम कर सकती है। एक भावी साहित्यकार से मेरा परिचय है जिसने पिछले दस साल से अपनी लिखी कतरनों को संभाल कर रखा हुआ है। इनके आधार पर मौलिक लेखक बनने की सोचता रहता है। उसका विश्वास भी मेरी तरह डोलने वाला नहीं है। यदि उसके पास यह टोकरी होती तो उसका विश्वास शायद इतना दृढ़ न होता। इस सौगात के आने पर मेरा विश्वास तो गिरता ही गया है। इसके बावजूद भी मैं इसका आभारी हूँ। अपने आभार को इस तरह व्यक्त कर मैंने इस लेख को टोकरी के हवाले कर दिया, लेकिन इन पत्रों को फाड़ना भूल गया। मेरे नौकर ने अंगीठी जलाने के लिए इन साबूत पत्रों को अलगकर टोकरी खाली और साफ कर दी। जब इनको दोबारा पढ़ा तो मुझे लगा कि ये इतने बुरे नहीं हैं जितने मैं समझता था या आप समझते हैं।

आँगन में बैंगन

हरिशंकर परसाई

मेरे दोस्त के आँगन में इस साल बैंगन फल आये हैं। पिछले कई सालों से सपाट पड़े आँगन में जब बैंगन फल उठा तो ऐसी खुशी हुई जैसे बाँझ को ढलती उम्र में बच्चा हो गया हो। सारे परिवार की चेतना पर इन दिनों बैंगन सवार है! बच्चों को कहीं दूर पर बकरी भी दीख जाती है, तो वे समझते है कि वह हमारे बैंगन के पौधों को खाने के बारे में गम्भीरता से विचार कर रही हैं। वे चिल्लाने लगते हैं। पिछले कुछ दिनों से परिवार में बैंगन की ही बात होती है। जब भी जाता हूं, परिवार की स्त्रियां कहती हैं—खाना खा लीजिए। घर के बैंगन बने हैं। मेरा मित्र भी बैठक से चिल्लाता है—'अरे भई, बैंगन बने हैं कि नहीं?' मुझे लगता है, आगे ये मुझसे 'चाय पी लीजिए' के बदले कहेंगी—'एक बैंगन खा लीजिए। घर के हैं।' और तश्तरी में बैंगन काट-कर सामने रख देंगी। तब मैं क्या करूँगा? शायद खा जाऊँ, क्योंकि बैंगन चाहे जैसा लगे, भावना स्वादिष्ट होगी और मैं भावना में लपेटकर बैंगन की फांक निगल जाऊँगा।

ये बैंगन घर के हैं और घर की चीज का गर्व विशेष होता है। अगर वह चीज घर में ही बनायी भी गयी हो, तो निर्माण का गर्व उसमें और जुड़ जाता है। मैंने देखा है, इस घर के बैंगन का गर्व स्त्रियों को ज्यादा है। घर और आंगन में जो है वह स्त्री के गर्व के क्षेत्र में आता है। इधर बोलचाल में पत्नी को 'मकान' कहा जाता है। उस दिन मेरा एक दोस्त दूसरे दोस्त को सपत्नीक भोजन के लिए निमन्त्रित कर रहा था। उसने पूछा—'हाँ' यह तो बताइए आपका 'मकान' गोश्त खाता है या नहीं? पत्नी अगर 'मकान' कही जाती है, तो पति को 'चौराहा' कहलाना चाहिए। दोनों की पत्नियां जब मिलें तो एक का 'मकान' दूसरे के 'मकान' से पूछ सकता है—'बहन, तुम्हारा 'चौराहा' शराब पीता है या नहीं?

लोग पान से लेकर बीवी तक घर की रखते हैं। इनमें बड़ा गर्व है और बड़ी सुविधा है। जी चाहा तब पान लगाकर खा लिया और जी हुआ तब पत्नी से लड़कर जीवन के कुछ क्षण सार्थक कर लिये। कुछ लोग मूर्ख भी घर के रखते हैं। और मेरे एक परिचित तो जुआड़ी भी घर के रखते हैं। दीवाली पर अपने वेटों के साथ वैठ कर जुआ खेल लेते हैं। कहते थे—'भगवान की दया से अपने चार वेटे हैं, सो घर में ही जुआ खेल लेते हैं।'

घर की चीज आपत्ति से भी परे होती है। आदमी स्वर्ग से इसलिये निकाला गया कि उसने दूसरे के बगीचे का सेव खा लिया था। माना कि वह वगीचा ईश्वर क़ा था, पर फिर भी पराया था। अगर वह सेव उसके अपने बगीचे का होता, तो वह एतराज करनेवाले से कह देता—'हाँ, हाँ, खाया तो अपने वगीचे का ही खाया। तुम्हारा क्या खा लिया?' विश्वामित्र का 'वैसा' मामला अगर घर की औरत से होता, तो तपस्या भंग न होती। वे कह देते—'हाँ जी, हुआ। मगर वह हमारी औरत है। तुम पूछनेवाले कौन होते हो?' अगर कोई अपनी स्त्री को पीट रहा हो और पड़ोसी उसे रोकें, तो वह कैसे विश्वास से कह देता है—'वह हमारी औरत है। हम चाहें उसे पीटें, चाहें मार डालें। तुम्हें बीच में बोलने का क्या हक है।' ठीक कहता है वह। जब वह कद्दू काटता है, तब कोई ऐतराज नहीं करता, तो औरत को पीटने पर क्यों एतराज़ करते हैं? जैसा कद्दू वैसी औरत। दोनों उसके घर के हैं। घर की चीज में यही निश्चिन्तता है! उसमें मजा भी विशेष है। वैंगन चाहे वाजार के वैंगन से घटियाँ हों, पर लगते अच्छे स्वादिष्ट हैं। घर के है न। मैंने लोगों को भयंकर कर्कशा को भी प्यार करते देखा है, क्योंकि वह घर की औरत है।

वैसे मुझे यह आशा नहीं थी कि यह मेरा दोस्त कभी आँगन में वैंगन का पौधा लगायेगा। कई सालों से आँगन सूना था। मगर मैं सोचता था कि चाहे देर से खिले, पर इस आँगन में गुलाब, चम्पा और चमेली के फूल ही खिलेंगे। वैंगन और भिण्डी जैसे भोंड़े पौधे को वह अपने आँगन में जमने नहीं देगा। पर इस साल जो नहीं होना था, वही हो गया। वैंगन लग गया। वह रुचि से खाया भी जाने लगा। मेरे विश्वास को यह दोस्त कैसे धोखा दे गया। उसने

शायद घबराकर बैंगन लगा लिया। बहुत लोगों के साथ ऐसा हो जाता है। गुलाब लगने के इन्तजार में साल गुजारते रहते हैं और फिर घबरा कर आँगन में बैंगन या भिण्डी लगा लेते हैं। मेरे एक परिचित ने इसी तरह अभी शादी की है—गुलाब के इन्तजार से ऊबकर बैंगन लगा लिया है।

लेकिन इस मित्र की सौंदर्य-चेतना पर मुझे भरोसा था। न जाने कैसे उसके पेट से सौंदर्य चेतना प्रकट हो गयी। आगे हो सकता है, वह बेकरी को स्थापत्य-कला का श्रेष्ठ नमूना मानने लगे और तन्दूरी रोटी की भट्टी में उसे अजन्ता के गुफा-चित्र नजर आयें।

इसे मैं बर्दाश्त कर लेता। बर्दाश्त तब नहीं हुआ, जब परिवार की एक तरुणी ने भी कहा—'अच्छा तो है। बैंगन खाये भी जा सकते हैं'। मैंने सोचा, हो गया सर्वनाश। सौंदर्य, कोमलता और भावना का दिवाला पिट गया। सुन्दरी गुलाब से ज्यादा बैंगन को पसन्द करने लगी। मैंने कहा—'देवी, तू क्या उसी फूल को सुन्दर मानती है जिसमें से आगे चलकर आधा किलो सब्जी निकल आए। तेरी जाति कदम्ब के नीचे खड़ी होनेवाली है, पर तू शायद हाथ में बाँस लेकर कटहल के नीचे खड़ी होगी। पुष्पलता और कद्दू की लता में क्या तू कोई फर्क नहीं समझती? तू क्या बंशी से चूल्हा फूँकेगी? और क्या वीणा के भीतर नमक-मिर्च रखेगी?'

तभी मुझे याद आया कि अपने आँगन में तो कुछ भी नहीं हैं। दूसरे पर क्या हँसूँ? एक बार मैंने गेंदे का पौधा लगाया था। यह बड़ा गरीब, सर्वहारा फूल होता है। कहीं भी जड़ें जमा लेता है। मैंने कहा—'हुजूर' अगर आप जम जाएँ और खिल उठें, तो मैं गुलाब लगाने की सोचूँ। 'मगर वह गेंदा भी मुरझाकर सूख गया। उसका डण्ठल बहुत दिनों तक जमीन में गड़ा हुआ मुझे चिढ़ाता रहा कि गेंदा तो आँगन में निभ नहीं सका, गुलाब रोपने की महत्वाकांक्षा रखते हो। और मैं उसे जवाब देता—'अभागे मुझे ऐसा गेंदा नहीं चाहिए जो गुलाब का नाम लेने से ही मुरझा जाय। गुलाब को उखाड़ कर वहाँ जम जाने की जिसमें ताकत हो, ऐसा गेंदा अपने आँगन में लगने दूंगा। मेरे घर के सामने के बंगले में घनी मेंहदी की दीवार-सी उठी है। इसकी टहनी

कहीं भी जड़ जमा लेती है। इसे ढोर भी नहीं खाते। यह सिर्फ सुन्दरियों की हथेली की शोभा वढ़ाती है और इसीलिए पशु तक के लिए वेकार इस पौधे की रूमानी प्रतिष्ठा लोक-गीत से लेकर नयी कविता तक में है। नेल पालिश के कारखानों ने मेंहदी की इज्जत अलबत्ता कुछ कम कर दी है। तो मैंने मेंहदी की कुछ कलमें आँगन में गाड़ दीं। दो-तीन दिन वाद आवारा ढोरों ने उन्हें रौंद डाला। मैं दुखी था। तभी अखबार में पढ़ा कि किसी 'हाइड्रो इलेक्ट्रिक प्लाण्ट' का पैसा इंजीनियर और ठेकेदार खा गये और उसमें ऐसी घटिया सामग्री लगायी कि प्लाण्ट फूट गया और करोड़ों वरवाद हो गये। जो हाल मेरे मेंहदी के 'प्लाण्ट' का हुआ, वही सरकार के उस विजली के 'प्लाण्ट' का हुआ—दोनों को उजाड़ू ढोरों ने रौंद डाला। मैंने इस एक ही अनुभव से सीख लिया कि 'प्लाण्ट' रोपना हो तो उसकी रखवाली का इंतजाम पहले करना। भारत सरकार से पूछता हूँ कि मेरी सरकार, आप कब सीखेंगी ? मैं तो अब 'प्लाण्ट' लगाऊँगा, तो पहले रखवाली के लिए कुत्ते पालूँगा। सरकार की मुश्किल यह है कि उसके कुत्ते वफादार नहीं हैं। उनमें से कुछ आवारा ढोरों पर लपकने के वदले, उनके आसपास दुम हिलाने लगते हैं।

फिर भी भारत सरकार के प्लाण्ट तो जम ही रहे हैं और आगे जम जायेंगे। उसके आँगन की जमीन अच्छी है और 'प्लाण्ट' सींचने को ४५ करोड़ लोग तैयार हैं। वे प्लाण्ट भी उन्हीं के हैं। सरकार तो सिर्फ मालिन है।

मेरे इस आँगन का अभी कुछ निश्चित नहीं है। बगल के मकान के अहाते से गुलाव की एक टहनी, जिस पर वड़ा-सा फूल खिलता है, हवा के झोंके से दीवार पर से गर्दन निकाल कर इधर झाँकती है। मैं देखता रहता हूँ। कहता हूँ—'तू ताक चाहे झाँक। मैं इस आँगन में अब पौधा नहीं रोपूँगा। यह अभागा है। इसमें बरसाती घास के सिवा कुछ नहीं उगेगा। सभी आँगन फूल खिलने लायक नहीं होते'। फूलों का क्या ठिकाना। वे गँवारों के आँगन में भी खिल जाते हैं। एक आदमी को जानता हूँ, जिसे फूल सूँघने की तमीज नहीं हैं। पर उसके बगीचे में तरह-तरह के फूल खिले हैं। फूल भी कभी बड़ी बेशर्मी लाद लेते हैं और अच्छे खाद पर बिक जाते हैं।

मेरा एक मित्र कहता है कि 'तुम्हारे आँगन में कोमल फूल नहीं लग सकते। फूलों के पौधे चाहे किसी घटिया तुकबन्द के आँगन में जम जायँ, पर तुम्हारे आँगन में नहीं जम सकते। वे कोमल होते हैं, तुम्हारे व्यंग्य की लपट से जल जायेंगे। तुम तो अपने आँगन में बबूल, भटकटैया और धतूरा लगाओ। ये तुम्हारे बावजूद पनप जायेंगे। फिर देखना कौन किसे चुभता है—तुम बबूल को या बबूल तुम्हें? कौन किसे बेहोश करता है—धतूरा तुम्हें या तुम धतूरे को?'

बाघ का शिकार

श्रीराम शर्मा

समय सायंकाल के साढ़े चार बजे। टिहरी गढ़वाल का इलाका। महीना दिसम्बर का। कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था और चाय पीने में मजा आ रहा था कि किसी ने बाहर से पुकारा "जरा बाहर आइए। एक आदमी आया है और बाघ की खबर लाया है।" बाघ का नाम सुन कर मैं उछल पड़ा। चाय का प्याला वहीं रख कर झट से बाहर आ गया।

बाहर आकर देखा कि पश्मीने की चादर ओढ़े मेरे एक शिकारी मित्र खड़े हैं और उनकी बगल में एक हाड़ का कंकाल बूढ़ा खड़ा है। उसकी मुखाकृति उसकी अंतर्वेदना की द्योतक थी। कष्ट, विपत्ति और समय के उलट-फेर ने उसकी गति तूफान में फँसे जहाज की-सी कर दी थी।

एक तो दिन भर की थकावट, दूसरे कुसमय और उस पर कड़ाके का जाड़ा। तबियत बाहर निकलने को न करती थी। पर उस बूढ़े की आँखों में एक खिचाव था जो हृद्तंत्री के तारों को अपनी ओर खींचता था। वह खिचाव प्रेम का आकर्षण-सा न था, वरन् कंपायमान, भावी आशंका से भयभीत बलि-पशु की आँखों से निकलती हुई मूक याचना-सा खिचाव था।

वन-बीहड़-सहचरी बन्दूक उठाई। कारतूस जेब में डाले और मित्र-महोदय तथा किसान के साथ चल पड़ा। पहाड़ पर कुछ ही आगे गए होंगे कि बूढ़े ने कंधे पर हाथ रख कर कहा, "मालिक! ऊपर देखो। ठीक उस डाँड़े पर मेरी गाय पड़ी है और वहाँ से चार फर्लांग पर पहाड़ के दूसरी ओर दूसरी गाय मरी पड़ी है।" बूढ़े की बात सुनकर बाघ मारने की योजना बनाई। पाँच मिनट तक परामर्श हुआ। परामर्श क्या था, एक प्रकार की युद्ध-कांफ्रेंस थी जिसमें अपने शत्रु की सब चालों का ख्याल किया गया।

परामर्श से हम लोग इस नतीजे पर न पहुँचे कि एक ही बाघ ने दो गायों को मारा होगा। दो बाघों की आशंका से हम लोगों ने अपने दल को दो भागों

में विभक्त किया। मेरे मित्र दूसरी गाय की लाश की ओर चले। मैं डांड़े की ओर चला और यह निश्चय हुआ कि समय अधिक हो जाने पर लाश पर आज बैठना ठीक नहीं।

स्मरण रहे, बाघ जंगल का कूटनीतिज्ञ चाणक्य होता है। छोटी-सी हिलती पत्ती से, आसन बदलने से और कोई-कोई तो कहते हैं कि पलक की आवाज से बाघ अपने शत्रु को पहचान लेता है, और फिर लाश पर नहीं आता। इसलिए बाघ को मारने के लिए झाड़ी और काँटों का जो स्थान बनाते हैं वह दिन में चार बजे तक बना लेते हैं। बनाते समय कुछ आदमी इधर-उधर बैठे रहते हैं जिससे बाघ यह समझे कि किसान घास काट रहे हैं। जब शिकारी छिप कर बैठ जाते हैं तब और लोग बातें करते चले जाते हैं जिससे बाघ समझे कि घास काटने वाले चले गए और उसका भोजन बेखटके पड़ा है। ऐसा होने पर भी बाघ एकदम लाश पर नहीं आता। छिप-छिप कर, रुक-रुक कर और देख-देख कर वह एक-एक गज बढ़ता है।

मुझे एक मील के लगभग पहाड़ की चोटी पर पहुँचना था और समय तंग हो रहा था। जंगल में बाघ अपने शिकार पर चार-पाँच बजे ही आ जाता है इसलिए मैं बड़ा चौकन्ना होकर चल रहा था। पहाड़ की चोटी पर डूबते हुए सूरज की लाल किरणें गजब ढा रहीं थीं। रात्रि-आगमन के चिन्ह चारों ओर दृष्टिगोचर हो रहे थे। चिड़ियाँ झाड़ियों में चहचहा रहीं थीं, किसान थके-माँदे घर लौट रहे थे। मैं चढ़ाई पर एक-एक पैर सँभाल कर रख रहा था कि कहीं चुपचाप बाघ दिखाई पड़ जाय और वह मुझे न देख पावे तो फिर एक बार जीवन की बाजी लगाकर फायर कर दिया जाय। आधी चढ़ाई के उपरान्त मैं एक चट्टान के किनारे रुका और गिद्ध-दृष्टि से पहाड़ की चोटी की ओर देखा। एक झाड़ी के आस-पास चिड़ियाँ कुछ विचित्र रूप से चहचहा रही थीं। उधर जो देखा तो हृदय की धड़कन एकदम बढ़ गई। सामने तीन सौ गज पर झाड़ी के सहारे बाघ खड़ा हुआ दिग्दर्शन कर रहा था और चिड़ियाँ अपनी शक्ति भर विरोध का प्रदर्शन कर रहीं थीं। मेरे पास राइफल न थी, बन्दूक थी। राइफल न लाने की मूर्खता पर अपने को हजार बार कोसा, क्योंकि १२ नम्बर यानी ट्वैल्व बोर बन्दूक की मार इतनी दूर नहीं होती।

बाघ थोड़ी देर बाद अपने शिकार की ओर शाही शान से चला। मैंने अपना मार्ग छोड़ कर कुछ चक्कर काट कर पहाड़ की चोटी पर पहुँचने की ठानी जिससे बाघ पर बगल से छिप कर फायर किया जा सके। बाघ मुझसे तीन सौ गज ऊपर था। वह पहाड़ के ऊपर से ही अपने शिकार की ओर जा रहा था। मैंने आगे बढ़ कर उसके रास्ते में जाना चाहा।

दोनों को एक ही स्थान पर पहुंचना था। जिस प्रकार दो गलियां से कोई चल कर गलियों के मोड़ पर मिलते हैं और जब तक आमने-सामने नहीं आ जाते तब तक एक-दूसरे को नहीं देख सकते, ठीक इसी प्रकार मैं इस विचार से मोड़ की ओर चला कि कहीं पीछे से पचास-साठ गज की दूरी पर बाघ दिखाई पड़ा और मौका हुआ तो उसे मारने की चेष्टा करूँगा। यह केवल अंदाज ही अंदाज था। यह स्वप्न में भी विचार न था कि अंदाज इतना ठीक निकलेगा। जूते उतार कर मैं ऊपर की ओर लपका। जूते इसलिए उतार दिए कि तनिक भी आहट न हो। जब पहाड़ की चोटी का मोड़ पचास साठ गज रह गया, तब मैं धीरे-धीरे एक-एक पैर गिन कर बन्दूक को बगल में दबाए ओर हाथ बन्दूक के घोड़े पर रक्खे आगे बढ़ा। पर ज्योंही मैं मोड़ पर पहुँचा त्योंही दूसरी ओर से बाघ आ गया। जंगल में स्वच्छन्द रूप से अभिमान के साथ मस्त चाल से चलते हुए बाघ को इतने समीप से मैंने कभी नहीं देखा था। झुकी हुई अधखुली आँखें श्वेत दाँतों से कुछ बाहर निकली हुई लाल जीभ—साक्षात् यमराज की मूर्ति मेरे सामने आ गई। हृदय की धड़कन कुछ क्षणों के लिए न मालूम कितनी तीव्र हो गई। बाघ से मुझे सहसा भय नहीं लगता, पर इस आकस्मिक भिड़न्त के लिए मैं तैयार न था। पीछे हटने का समय न था। ऐसे अवसरों पर मनुष्य की सहायक पशु-बुद्धि ही होती है, और प्रेरक कोई विशेष शक्ति। ज्योंही बाघ की दृष्टि मुझ पर पड़ी त्योंही वह गरज कर पिछले पाँवों पर खड़ा हो गया। वह मेरे इतने समीप था कि मैं बन्दूक की नाल से उसे छू सकता था। पहले तो मैं काँपा और यह मालूम होता था कि हृदय नीचे पैरों की ओर भीतर ही भीतर सरक रहा हो। बाद को निराशाजन्य साहस अथवा उद्वेग ने मुझे मृत्यु का सामना करने योग्य बना दिया। मैंने समझ लिया कि मैं फायर करूँ या न करूँ बाघ मुझे मार ही देगा।

उधर बाघ ने भी समझा कि यह दो पैरों का प्राणी काली-काली लोहे की वस्तु लिए उसी की जान की खातिर आया है, उसी के खून का प्यासा है। उसके मुँह से ग्रास छीने तो छीने, पर उसकी जान का ग्राहक दो पैरों का यह जीव इस प्रकार अपमान करके उसे मारने आया है। यह नहीं हो सकता। बाघ के पास इस अपमान और धृष्टता का एक ही उत्तर था और वह यह कि वह अपने शत्रु की हस्ती को मिटा दे।

इधर मैंने ख्याल किया कि बाघ गिरते हुए भी एक चोट करेगा और यदि वह मेरे खून को न भी पी सकेगा तो नीचे खड्ड में तो गिरा ही देगा। खड्ड में एक मील नीचे गिरने पर मेरे अन्त का पता भी कोई न देगा यद्यपि मैं बन्दूक का घोड़ा चढ़ाए खड़ा था, मैंने निश्चय कर लिया था कि पहले मैं आक्रमण नहीं करूँगा। यदि बाघ मुझ पर झपटा तो फायर करूँगा और आत्म-रक्षा के लिए जो कुछ बन पड़ेगा, करूँगा।

एक मिनट तक हम दोनों डटे रहे। बाघ गुर्रा रहा था। उसकी आँखों से ज्वाला-सी निकल रही थी। मैंने न फायर किया और न उसने आक्रमण। वह एक मिनट युग के समान था। ज्योंही वह मुड़ा मैंने समझा कि बस मेरे ऊपर आया। बन्दूक दाग ही तो दी। जंगल गूँज गया। गोली बाघ के पेट में लगी। मैंने बाघ को गिरते देखा। बन्दूक छोड़ मैं नीचे को दौड़ा पर जिस बात का डर था, वही हुआ। खड्ड की ओर मैं फुटबॉल की भाँति लुढ़कने लगा। चालीस-पचास गज लुढ़का हूँगा कि हृदय दहलाने वाली बाघ की गर्जन कान पर मालूम हुई।

मौत के अनेक बहाने होते हैं और जीवन रक्षा के अनेक सहारे। यदि जीवन होता है तो मनुष्य पहाड़ की चोटी से गिर के बच जाता है और मरने के लिए तो सीढ़ियों से गिरना ही काफी है। मुझे बचना था। सामने खड्ड की ओर तेजी के साथ लुढ़कने के मार्ग में एक चीड़ का वृक्ष था। इतना होश-हवास तो था ही। आठ-दस गज ऊपर से ही पेड़ देख लिया। उसी ओर जाने के लिए हाथ-पैर पीटें और उसी पेड़ से जा टकराया। पीछे से बाघ के घिसटने की सरसराहट आ रही थी। पेड़ से ठोकर खा कर रुका और झटपट ऊपर चढ़

गया। इतने ही में विद्युत गति से बाघ भी आ गया और उचक कर उसने अपना पंजा मारा। उसके पंजे में मेरा नेकर आ गया। नेकर फट गया, पर मैं ऊपर निकल ही गया।

बाघ की कमर टूट गई थी। इसलिए वह पेड़ पर न चढ़ सका। पेड़ पर ऊपर बैठ कर मैंने दम लिया। नीचे बाघ अन्तिम साँसें ले रहा था। एक झटके से उसका दम निकल गया।

रात के नौ बजे लालटेन लेकर कुछ पहाड़ी उस रास्ते से होकर निकले। पेड़ से मैंने आवाज दी और बड़ी कठिनाई से मैं पेड़ से उतर कर हाथ पैरों के बल रास्ते पर पहुँचा। बाघ की लाश उठाने का काम सुबह पर छोड़ा गया और बन्दूक की तलाश भी प्रातःकाल पर।

इतने दिनों बाद भी बाघ से उस दिन बाल-बाल बचने की घटना मन में बिल्कुल ताजी है।

परिशिष्ट

ठेलेपर हिमालय

धर्मवीर भारती (१९२६) नई कविता के सशक्त कवि, यशस्वी कथाकार तथा प्रख्यात पत्रकार के रूप में जाने जाते हैं। अब तक की प्रकाशित कृतियों में—ठेले पर हिमालय, अन्धायुग, गुनाहों का देवता, सूरज का सातवाँ घोड़ा, चांद और टूटे हुए लोग, मानव मूल्य और साहित्य—विशेष उल्लेखनीय हैं। इस समय आप 'धर्मयुग' के संपादक हैं।

प्रस्तुत निबंध में लेखक ने अपनी हिमालय यात्रा का वर्णन बहुत ही सरल तथा सरस शैली में किया है। लेखक को हिमालय की याद ठेले पर लदी हुई बर्फ को देखने से आती है। हिमालय के स्मरण मात्र से वह अतीत में खो जाता है और निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जिन लोगों ने नज़दीक से हिमालय की बर्फ को देखा है वे हिमालय के सौंदर्य को भूल नहीं सकते। पूरे निबंध पर भारती का कवि–व्यक्तित्व छाया हुआ है।

काफ़ूर = उड़ जाना, एमिल जोला = पाश्चात्य दार्शनिक और साहित्यकार, तन्द्रालस = ऊंघ के कारण होने वाला आलस्य, बाइनाकुलर = दूर देखने का यंत्र, अनासक्ति योग = आसक्ति रहित मार्ग, कत्यूर = स्थान-नाम, किन्नर = देवताओं की एक जाति जिनका मुख घोड़े के समान होता है, यक्ष = देवताओं की जाति, निष्कलंक = स्वच्छ, नगाधिराज = पर्वतों का राजा, ग्लेशियर = हिमनद।

घोषणा-पत्र

अमृत लाल नागर (१९१६) मुख्यतया कथाकार के रूप में जाने जाते हैं। निबंधों का संग्रह हाल ही में प्रकाशित हुआ है—'कृपया दायें चलिए।'

अन्य रचनाओं में —बूंद और समुद्र, अमृत और विष तथा मानस का हंस आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रस्तुत निबंध में लेखक ने साहित्यिक और राजनीतिक जीवन की विसंगतियों, स्वार्थपरता आदि पर करारा व्यंग्य किया है। निबंध की शैली पर नागर जी के कथाकार का अनुशासन है।

अकिंचनता = दरिद्रता, इल्लत = बीमारी, आस्था = श्रद्धा, आबरु = इज्जत, बुर्जुआ = पुरानापंथी, रायल्टी = किसी वस्तु के स्वामित्व से मिलने वाली आय, मेनिफेस्टो = घोषणा-पत्र, घोषणापत्र = वह पत्र जिसमें सर्व साधारण के सूचनार्थ राजाज्ञा आदि लिखी हो। निःशस्त्रीकरण = शस्त्र न उठाने का भाव, विफरना = क्रुद्ध होना।

भोर का आवाहन

विद्यानिवास मिश्र (१९२५) प्रख्यात भाषा-विद् तथा यशस्वी निबंधकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। कविताओं का भी शौक है परन्तु अधिक सफलता भाषाविज्ञान और निवंध के क्षेत्र में मिली है। प्रकाशित निबंध संग्रहों में— आंगन का पंछी और बनजारा, तुम चन्दन हम पानी, चितवन की छांह, मेरे राम का मुकुट भींग रहा है, भोर का आवाहन—आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इस समय आप सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी में आधुनिक भाषा विज्ञान विभाग के अध्यक्ष हैं।

प्रस्तुत निबंध में लेखक ने ब्राह्ममुहुर्त में 'ठाकुर जी' सदृश ध्वनि उच्चारित करनेवाली 'ठाकुर चिरइया' को भोर का आवाहक चिड़िया तथा उसकी ध्वनिको 'भोर का आवाहन' शब्द माना है जिसे सुनते ही ग्रामीण यात्री यात्रापर निकल जाते है, किसान हल-बैल के साथ खेत की ओर प्रयाण करता है, बहुएं जांता पर बैठ जाती हैं··· । लेखक ने 'ठाकुर चिरइया' के संदर्भ में भारतीय ग्रामीण संस्कृति, विशेषकर भोजपुरी संस्कृति को पूरे परिवेश के साथ उभारा है।

भिनुसार = भोर, मिरुग = मृग, जानवर, आवाहन—निमंत्रित करना, अमोघ = अचूक, प्रतिबोधित = अच्छी तरह सिखलाया हुआ, प्रभाती = सबेरे के समय गाने का एक गीत, उत्कंठित = उत्सुक, जतसार—वह स्थान जहां चक्की गड़ी रहती है, उत्तपित = पीड़ित, अपरूप = कुरुप, विथकित = थका हुआ, उन्मद = वे-सुध, शिंजिनी = नूपुर, उत्कलित = लहाराता हुआ, दूर्वादल = दूब घासका समूह, विलमना = ठहरना, अवनि = पृथ्वी, अपरिहार्य = जो छोड़ा न जा सके, अनुराधना = विनती करना, समवेत = एकत्र, प्रत्याशा = भरोसा, प्रतिदान = दी गई वस्तु, स्निग्ध = स्नेह अथवा प्रेम, प्रवंचना = छल, अस्तित्व = सत्ता, तितिक्षा = सहिष्णुता, अनुवर्तन = अनुसरण, आदित्यवादी=सूर्यवादी, अनुधावन=पीछे चलना, तत्सत्=परमात्मा।

गिल्लू

महादेवी वर्मा (१९०७) प्रख्यात कवित्री तथा सशक्त गद्य लेखिका के रूप में विख्यात हैं। सजीव स्मरण तथा रेखाचित्रों के लिए प्रसिद्ध हैं। गद्य एवं पद्य दोनों क्षेत्रों में समान सफलता मिली है। लगभग एक दर्जन रचनाओं में—निहार, रश्मि, नीरजा, दीपशिखा, स्मृति-चित्र, स्मृतिकी रेखाएँ, अतीत के चलचित्र, शृंखला की कणियां—विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रस्तुत निबंध में महादेवी ने गिल्लू (गिलहरी) से संबंधित अपने संस्मरण को बहुत ही सरल तथा सरस शैली में प्रस्तुत किया है। इससे कवित्री के व्यक्तित्व के अनेक पक्षों पर प्रकाश पड़ता है जिसमें जानवरों के प्रति सहज स्नेह प्रधान है। संस्मरण की भाषा चित्रात्मक एवं प्रभावकारी है।

सोनजूही = पीले फूलोंवाली जूही, काकभुशुंडि = एक राम भक्त ब्राह्मण जो लोमश ऋषि के शाप से काक (कौवा) हो गये थे। अवमानना = अपमान करना, लघुप्राण = छोटा जीव, निश्चेष्ट = बेहोश, आहत = घायल, परिचारिका = सेविका, पीताभ = पीतवर्ण।

यूरोप की छतपर

अज्ञेय (१९११) पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन है। कविता, उपन्यास और कहानी रचना की ओर विशेष झुकाव परन्तु कविता के क्षेत्र में उल्लेखनीय सफलता मिली है। अनेक युगान्तकारी रचनाओं में—तारसप्तक, हरी घासपर क्षण भर, आंगन के पार द्वार, सुनहले शैवाल, शेखर एक जीवनी, नदी के द्वीप, अपने अपने अजनबी, ये तेरे प्रतिरूप, एक बूंद सहसा उछली—विशेष स्मरणीय हैं।

प्रस्तुत निबंध में यूरोप के छतपर अवस्थित स्वीटजरलैण्ड के भौगोलिक और सांस्कृतिक सौंदर्य का निरूपण हुआ है। लेखक ने बहुत ही कौशल के साथ दुनिया के स्वर्ग को अक्षरों के समूह में रुपायित किया है और बताने का प्रयास किया है कि स्वीटजरलैण्ड का सौन्दर्य इतना मधुर एवं आकर्षक है कि उसकी वास्तविकता पर संदेह होने लगता है। कश्मीर की स्वीटजरलैण्ड से कोई तुलना नहीं हैं।

द्विविधा = संशय, संस्पर्श = छुआव, आल्पो = एक पर्वत का नाम है। प्रवहमान = जोरों से बहता या चलता हुआ, गंवई = गाँव जैसा, आंतरे = अन्तर।

टेलीविजन

भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव (१९११) के अधिकांश निबंध वैज्ञानिक विषयों से संबंधित हैं। प्रकाशित रचनाओं में—विज्ञान के चमत्कार, परमाणु शक्ति, भौतिक विज्ञान, विज्ञान की प्रगति, वैज्ञानिक युग विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रस्तुत निबंध में बहुत ही सरल ढंग से टेलीविजन का परिचय दिया गया है। लेखक ने बताने का प्रयास किया है कि टेलीविजन क्या है? और उससे किस प्रकार चित्र भेजे जाते हैं। टेलीविजन की भावी संभावनाओं और उपयोगिता का भी सम्यक् मूल्यांकन हुआ है।

टेलीवाइज = टेलीविजन यंत्र द्वारा चित्र भेजने की क्रिया। माइक्रोफोन = ध्वनि विस्तारक यंत्र, अभिवर्धित = बढ़ाकर, ऐक्टर = अभिनेता, परमाणु = किसी तत्त्व का वह अत्यन्त सूक्ष्म भाग जिसका और विभाग ही न हो सके, चक्षुपटल = पुतली, रेडियो ऐक्टिव = रेडियो सक्रिय, विभंजन = ध्वंस, क्रेन = भारी बोझ उठानेवाला यंत्र।

ओलिम्पिक में भारतीय हॉकीदल की पराजय

श्रीनारायण चतुर्वेदी (?) हिंदी के मान्य विद्वान तथा प्रसिद्ध साहित्य-सेवी। हिंदी-आंदोलन के कट्टर समर्थक के रूप में प्रसिद्ध हैं। प्रकाशित रचनाओं में महात्मा टालस्टाय, शासक, राजभवन की सिगरेटदानी, छेड़छाड़ विशेष महत्त्व की हैं। व्यक्तित्व सरल तथा सरस है। संप्रति 'सरस्वती' के संपादक हैं।

प्रस्तुत निबंध में मुख्यतः उन कारणों को प्रकाश में लाया गया है जिनसे म्यूनिख के ओलिम्पिक में भारतीय खिलाड़ियों की भारी पराजय हुई। लेखक का विश्वास है कि खेल और खिलाड़ियों के विकास के लिए सरकार एवं समाज-सेवियों दोनों का सहयोग आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं होता तो भारतीय खिलाड़ियों को ओलिम्पिक जैसे महत्त्वपूर्ण खेलों में भेजकर जगहसाई नहीं करनी चाहिए।

ओलिम्पिक = एक टूर्नामेण्ट, जिसमें विश्व के प्रायः सभी खेलों का आयोजन होता है। म्यूनिख = स्थान का नाम, भर्त्सना = निन्दा, मिंगी = गुद्दी। जिम्नास्टिक = काठ के दोहरे छड़ों के ऊपर की जानेवाली एक प्रकार की कसरत।

आलोकपर्व

हजारीप्रसाद द्विवेदी (१९०७) हिंदी के विद्वान् तथा यशस्वी साहित्यकार

के रूप में विख्यात हैं। निबन्ध, आलोचना और उपन्यास के क्षेत्र में विशेष सफलता मिली है। अनेक उत्कृष्ट रचनाओं में—कल्पलता, आलोकपर्व, पुनर्नवा, बाणभट्ट की आत्मकथा, चारुचन्द्र लेख, अशोक के फूल, हिंदी साहित्य का आदिकाल, कबीर, हिंदी साहित्य की भूमिका, नाथ सम्प्रदाय—विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रस्तुत निबंध में द्विवेदी जी ने दीपावली को आलोक पर्व कहा है और बताया है कि इस दिन आद्याशक्ति महालक्ष्मी की उपासना होती है। विभिन्न शक्तियों का प्रादुर्भाव इसी शक्ति से होता है। ज्ञानरूप में यही शक्ति सत्त्वगुण प्रधान सरस्वती है, इच्छा रूप में रजोगुण प्रधान लक्ष्मी है और क्रिया रूप में तमोगुण प्रधान महाकाली है। दीपावली के दिन शक्ति के इन्हीं रूपों का स्मरण होता है जिसके आलोक में मानव-मस्तिष्क सभ्यता के पथपर अग्रसर होता है।

आद्याशक्ति = आदि शक्ति, समवाय = समूह, तामसिक = तमोगुण का कार्य, सात्त्विक = सतोगुणी (निर्मल), बहुदेववाद = जिसमें बहुत से देवताओं की उपासना का विधान हो। प्रयोजन = अभिप्राय, शाक्त = शक्ति के उपासक या पूजक, त्रिपुरीकृत = तीन वस्तुओं का समूह, त्रिपुरा = कामाख्यादेवी, विच्छिन्नता = अलग का भाव, उलूकवाहिनी = लक्ष्मी, बन्ध्या = अवरुद्ध, प्रत्याख्यान = खंडन।

रद्दी टोकरी

इन्द्रनाथ मदान (१९१०) मूलतः आलोचक हैं परन्तु निबन्ध रचना का भी शौक है। कुछ पुस्तकें अंग्रेजी में भी प्रकाशित हैं। प्रकाशित रचनाओं में—गोदान, प्रेमचन्द और माडर्न लिटरेचर आदि प्रमुख हैं।

आप हिंदी में पहले पी-एच० डी० हैं। सम्प्रति पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ में हिंदी विभाग के अध्यक्ष हैं।

प्रस्तुत निबंध में लेखक ने रद्दी टोकरी के सन्दर्भ में अपनी वैयक्तिक धारणाओं का प्रकाशन किया है। उनका विश्वास है कि जीवन में बहुत कुछ

रद्दी के योग्य होता है और जो रद्दी के योग्य है उसे छोड़ देना चाहिए। जीवन की यही सार्थकता है।

अंबार = ढेर, इश्तहार = विज्ञापन, आगत = आनेवाला, विगत = बीता हुआ, संकुलता = संकुलित होने का भाव।

आँगन में बैंगन

हरिशंकर परसाई (१९२४) हास्य-व्यंग के प्रख्यात् लेखक के रूप में प्रतिष्ठित। साहित्य की अनेक विधाओं में पैठ है, परन्तु अधिक सफलता निबंध के क्षेत्र में मिली है। पत्र-पत्रिकाओं में दर्जनों निबंध प्रकाशित हो चुके हैं। निबंधों का संग्रह—भूत के पाँव, सदाचार का तावीज और निठल्ले की डायरी—नाम से प्रकाशित हुए हैं।

प्रस्तुत निबंध में निबंधकार ने 'आँगन में बैंगन' के माध्यम से घर की चीजों के प्रति होने वाले मोह पर करारा व्यंग्य किया है और यह व्यंग्य अप्रत्यक्ष रूप से मूल्यगत विसंगतियों तक सीमित हो गया है। रचना का निश्चित उद्देश्य होने के कारण विचारों का प्रकाशन कहीं नाटकीय ढंग से तो कहीं वैयक्तिक धरातल पर हुआ है, परन्तु प्रत्येक स्थिति में विसंगतियों पर प्रहार अवश्य हुआ है।

सपाट = चौरस, कर्कशा = लड़ाकी या कटुभाषिणी औरत, स्थापत्यकला = वास्तुविद्या, पुष्पलता = फूलों की लता, सर्वहारा = जिसके पास कुछ न हो, ढोर = मवेशी, रूमानी-प्रतिष्ठा = अलंकारिता का महत्त्व, आवारा = निरुद्देश्य भटकने वाला, हाइड्रो इलेक्ट्रिक प्लाण्ट = जल विद्युत योजना, प्लाण्ट=योजना।

बाघ का शिकार

श्रीराम शर्मा (?) ख्याति प्राप्त शिकार लेखक तथा पत्रकार। अनेक खूंखार जानवरों का स्वयं शिकार किया है। प्रकाशित पुस्तकों में—शिकार,

बोलती प्रतिमा और प्राणों का सौदा विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत निबंध में उन्होंने 'बाघ का शिकार' का बहुत ही रोचक तथा सजीव वर्णन किया है।

कंपायमान = काँपता हुआ, कांफ्रेंस = वह बैठक जिसमें महत्त्वपूर्ण विषयों पर निर्णय लिया जाता है अथवा विचार-विमर्श होता है, चाणक्य = प्रख्यात विचारक तथा कूटनीतिज्ञ, चन्द्रगुप्त के प्रधान मंत्री, अर्थशास्त्र के रचयिता विष्णुगुप्त, कौटिल्य, दिग्दर्शन = दिशाओं का निरीक्षण करना, अभिमान = गर्व, उद्वेग = घबड़ाहट।